भगवान
वर्ष २३
अङ्क ३
कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, मार्च सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≋) विदेशमें ८॥≡) (१३शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥−) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

काम और क्रोध
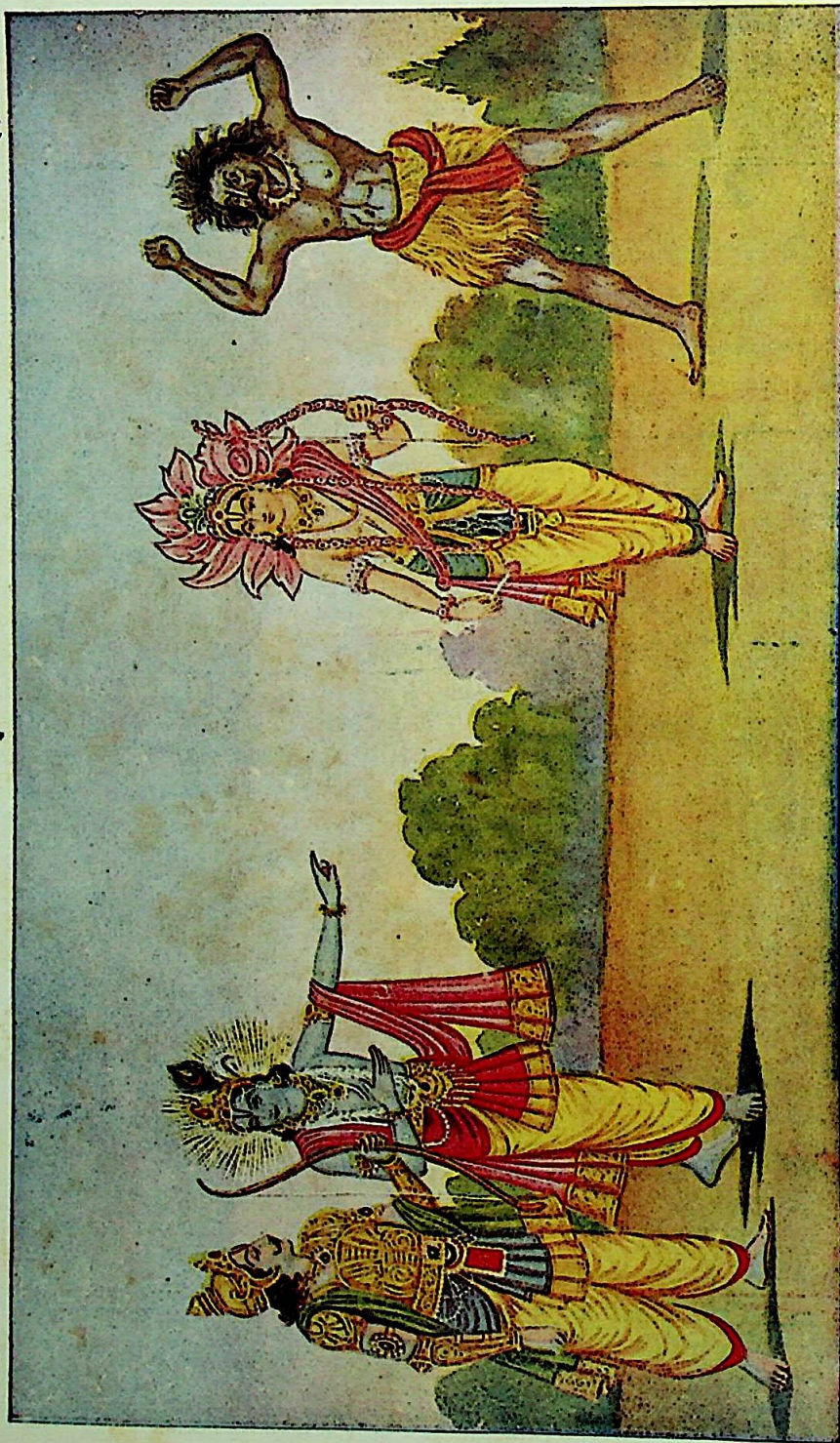
पार्थ ! रजोगुणजनित काम यह, यही क्रोध है, ले पहचान।
महा-अशन अतिशय पापी यह, वैरी यहाँ इसे तू जान ॥ (गीता ३ । ३७)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर चैत्र २००५, मार्च १९४९ | संख्या ३ पूर्ण संख्या २६८

कामना ही पापकी जड़ है

पार्थ ! यह काम पापकी खान ।
रागात्मक रजसे पैदा हो हर लेता सब ज्ञान ॥
यही मूल है सब पापोंका, इसको वैरी जान ।
प्रतिहत होकर यही क्रोध बन जाता अति बलवान ॥
कभी न भरता पेट भोगसे, इसकी भूख महान ।
आत्मपतनमें प्रबल हेतु इन दोनोंको पहचान ॥

याद रक्खो—जो सद्गुण भगवान्में प्रीति बढ़ानेवाले नहीं हैं, उनमें कहीं-न-कहीं कोई दोष है। उसको खोजो और दूर करो। सद्गुणकी यही पहचान है कि वह भगवान्की ओर ले जाता है।

याद रक्खो—जिसको अपने सद्गुणोंका अभिमान है और जो अपनेको उनका निर्माण करनेवाला मानता है, उसके सद्गुणोंकी संख्यावृद्धि तथा विशुद्धि रुक जाती है। सद्गुणोंका अभिमान दूसरोंमें दोषोंका दर्शन कराता है एवं उनके प्रति हेयदृष्टि, घृणा उत्पन्न करता है। जिसका परिणाम व्यवहारमें क्रमशः प्रेमशून्यता, कटुता, द्वेष, द्रोह और अन्तमें हिंसा-प्रतिहिंसातक हो सकता है।

याद रक्खो—जहाँ दोष-दर्शनकी बान पड़ी कि फिर किसीके छोटे दोष भी बहुत बड़े दीखते हैं, बिना हुए ही दोष दीखने लग जाते हैं और अन्तमें कोई भी पुरुष ऐसा नहीं बच जाता कि जिसमें दोष-दर्शन करनेवालेकी दोषपूर्ण बुद्धि किसी दोषको न देखे। यहाँतक कि फिर, उसकी दृष्टिमें मङ्गलमय भगवान्में भी दोष दीखने लगते हैं।

याद रक्खो—जितना ही दोष-दर्शन बढ़ता है, उतना ही दोषोंका चिन्तन, मनन भी बढ़ता है। फलतः दोषोंमेंसे घृणा निकल जाती है और उनमें प्रीति उत्पन्न होने लगती है।

याद रक्खो—अच्छे उद्देश्यसे भी बुरी वस्तुका बार-बारका चिन्तन-मनन उस वस्तुके विविध चित्र हृदयपर अङ्कित कर देता है और फिर बार-बार उसीकी स्फुरणा और स्मृति होती है तथा सद्गुण क्षीण होने लगते हैं।

याद रक्खो—जब इस प्रकार बाहर-भीतर दोष-ही-दोष आकर बस जाते हैं और उन्हींमें मन घुल-मिल जाता है, तब सारे सद्गुण क्षीण होते-होते लुप्त हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि दोषोंमें ही गुणबुद्धि होने लगती है, पापमें ही पुण्यबुद्धि होने लगती है।

याद रक्खो—जहाँ बुद्धिने गुणको दोष और दोषको गुण मान लिया कि फिर चित्तका भण्डार दोषोंसे भर जाता है, उनमें आसक्ति हो जाती है और बार-बार प्रयत्न होता है नये-नये दोषोंका संग्रह करनेके लिये।

याद रक्खो—सद्गुण वही टिकते हैं, जो प्रभुको समर्पित होते रहते हैं और जिनकी प्राप्तिमें प्रभुकृपाको ही कारण माना जाता है। इस स्थितिमें प्रभुकृपा अभिमान नहीं उत्पन्न होने देती और सद्गुणोंकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करती है। फिर ये सद्गुण भगवान्की पूजाके पुष्प बन जाते हैं और इनकी सुगन्ध तथा प्रसादसे आस-पासका सारा वातावरण सुख-शान्तिकी मधुर मनोहर सुगन्धसे भर जाता है।

याद रक्खो—सद्गुण वे ही हैं—जो किसी भी लौकिक कामना-वासनासे या अहंता-ममतासे कलङ्कित न होकर प्रभुके चरणोंमें समर्पित होने योग्य होते हैं। जिन सद्गुणोंपर अभिमानकी, ममताकी, मोहकी, कामना-वासनाकी कालिमा लग जाती है, वे भगवच्चरणों-पर चढ़नेयोग्य नहीं रहते। उनसे तो कलङ्क ही बढ़ता है।

याद रक्खो—वही सद्गुण है, वही सद्भाग्य है, जो मानव-जीवनको भगवच्चिन्तनमें लगा दे। सद्गुणोंके अभिमानसे भरी लंबी आयुकी अपेक्षा घड़ी-दो-घड़ीका वह समय महान् श्रेष्ठ है जिसमें मनुष्य अपनेको 'तृणादपि सुनीच' और सर्वथा पुरुषार्थहीन एवं गुणहीन मानकर भगवान्के पावन चरणोंका आश्रय ले पाता है।

'शिव'

बन्ध-मोक्षका कारण

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

भगवान् वशिष्ठने मिथ्यापुरुषका दृष्टान्त देकर अहङ्कारका उन्मूलन बतलाया है। जैसे किसी आकाशमें एक मिथ्या कल्पनामय पुरुष उत्पन्न हुआ और उसने आकाशकी रक्षाके लिये गृह, कूप, कुण्ड, कुम्भ आदि बनाये, परंतु सब-के-सब नष्ट होते गये। उसी तरह सूक्ष्म चिदाकाशमें 'अहं' नामका मिथ्यापुरुष उत्पन्न हुआ। वह भी उस चिदाकाशकी रक्षाके लिये नानाविध देहोंद्वारा उसे सीमित करके सुरक्षित रखना चाहता है; परंतु विनश्वर देहोंके नाशसे तत्स्थ चिदाकाशका नाश समझकर रोता है और पुनः देहान्तर रचता है। अहङ्कार, चित्त, बुद्धि, मन, माया, प्रकृति, सङ्कल्प, कल्पना, काल, कला, सब उसी मिथ्यापुरुषके नाम हैं। वह स्वयं मिथ्या है। मिथ्या कल्पनाद्वारा मिथ्याभिमानसे वह स्वयं दुखी होता है। आत्मा तो आकाशसे भी सूक्ष्म और विस्तीर्ण है। उसका किसी सीमामें आना सम्भव नहीं। उसका नाश और रक्षा भी किसीके वशकी बात नहीं है—

> इयं तु सर्वहृद्याढ्या राजन् सर्गपरम्परा।
> तस्मिन्नेव महादर्शे प्रतिबिम्बमुपागता॥

जल जैसे तरङ्गताको प्राप्त होता है, वैसे ही सङ्कल्पोन्मुख होकर चिन्मात्र संवित् ही जीवत्वको प्राप्त होता है।

> पथिकाः पथि दृश्यन्ते रागद्वेषविमुक्तया।
> यथा धिया तथैवैते द्रष्टव्याः स्वेन्द्रियादयः॥
> एतेषु नादरः कार्यः सता नैवावधीरणम्।
> पदार्थमात्रमाविद्यास्तिष्ठन्त्वेते यथासुखम्॥
> पदार्थमात्रदेहादि धिया सन्त्यज्य दूरतः।
> आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्ममयो भव॥

देह, इन्द्रिय, मन आदि सभी दृश्य अनात्मा, जड तथा मिथ्या हैं। आत्मा सर्वथा असङ्ग है, इनसे अलिप्त है। अतः बुद्धिसे ही इन सबका त्याग करके विशुद्ध आत्मामें प्रतिष्ठित होना ही पुरुषार्थ है। 'मैं देहादि सङ्घातमय हूँ'—यह बुद्धि अनर्थकारिणी है। 'चिन्मात्र, सन्मात्र, व्यापक, सर्वस्वरूप आत्मा हूँ'—यही बुद्धि कल्याणकारिणी है।

> कुचकोटरसंसुप्तं विस्मृत्य जननी सुतम्।
> यथा रोदिति पुत्रार्थं तथाऽऽत्मार्थमयं जनः॥
> अजरामरमात्मानमबुद्ध्वा परिरोदिति।
> हा हतोऽहमनाथोऽहं नष्टोऽस्मीति वपुर्व्यये॥

अर्थात् जैसे छातीपर सोये हुए पुत्रको भूलकर माता पुत्रके लिये रोती है, वैसे ही अजर, अमर आत्माको न जानकर देहका नाश उपस्थित होनेपर 'मैं नष्ट हुआ, अनाथ हो गया' इत्यादि रूपसे प्राणी रोता है। वस्तुतः चिद्ब्रह्म ही सब कुछ है, उससे अतिरिक्त कोई भी वस्तु कभी हुई ही नहीं। सब कुछ चिदादर्शमय है, इस भावनासे प्राणी शान्त रहता है। सर्वशून्य, निरालम्ब, निर्विषय चित्त ही सब कुछ है, यह भावना ही तापहारिणी है—

> चिदादर्शमयं सर्वं जगदित्येव भावयेत्।
> सर्वं शून्यं निरालम्बं चिद्रूपमिति भावयेत्॥

तृण, गुल्म, नर, नाग, आकाश, वायु, सूर्य, पृथ्वी सम्पूर्ण प्रपञ्चमें एकमात्र स्वप्रकाश संवित्स्वरूप सत्ता ही सार है। सरित्, सरोवर, समुद्रमें स्वच्छ जलके समान ही सर्वत्र स्वच्छ सत्तामात्र आत्मा ही भरपूर है। जैसे स्वप्नके घटादि अपनी उत्पत्तिमें मृत्तिका, दण्ड, चक्रादिकी अपेक्षा नहीं करते; किंतु अज्ञान, निद्रादि उनकी सामग्री कुछ और ही है, वैसे ही वस्तुतः सर्ग वास्तविक कारणरहित मायामय अनिर्वचनीय है। जैसे जलतरङ्गादिमें सूर्यका प्रतिबिम्ब होनेपर उपाधिगत हलचल प्रतिबिम्बमें प्रतीत होती है, वैसे ही अविद्या अन्तःकरणादि उपाधिमें चित्प्रतिबिम्बरूप जीवमें भी उपाधिगत कर्म प्रतीत होते हैं। वे उपाधिगत कर्म ही उन जीवोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं। सङ्कल्पोंसे ही कर्म और बन्ध आदि होते हैं, निःसङ्कल्पता मोक्षका कारण है।

इच्छाशक्ति या प्रभुकृपापर विश्वास

आधुनिक युगमें इच्छाशक्तिको बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। उचित भी है। यह नितान्त सत्य है कि हमारी इच्छाशक्तिमें बहुत बल है। इस बलका उपयोग करके हम अपनी गिरी दशासे बहुत कुछ ऊपर उठ सकते हैं। पर जबतक इस शक्तिका प्रवाह प्रभुकी ओर नहीं होता, तबतक इसके द्वारा भले ही हम कुछ समयके लिये ऊँचे स्तरपर आ जायँ; किंतु वह स्थिति स्थायी नहीं हो सकती। निरन्तर हमारे लिये पतनका भय लगा ही रहेगा और कुसमयमें—जिस समय हमें अन्य दुर्बलताएँ आकर घेरेंगी, उस समय—हम अपनी प्राप्त स्थितिसे भी नीचे गिर सकते हैं, गिरते हैं। कल्पना करें—हमारी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति किसी कुमार्गकी ओर हुई। अब यदि वास्तवमें हम यह दृढ़ इच्छा करें, पूरे मनोयोगसे यह चाहें कि नहीं, हम अपनी इन्द्रियोंको कुमार्गमें नहीं जाने देंगे, हमारी इन्द्रियाँ कुमार्गमें नहीं जा सकतीं, इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प करके इन्द्रियोंको कुपथसे हम पूरी तत्परतापूर्वक हटाना चाहें, हटा दें, तो इन्द्रियोंमें सचमुच यह शक्ति नहीं है कि हमारी आज्ञाका, दृढ़ सङ्कल्पका वे विरोध कर सकें। उन्हें लौटना पड़ेगा, वे एक बार निश्चय लौट आयेंगी। पर इतनेमात्रसे ही हमारे पतनका भय चला गया हो, इन्द्रियाँ फिर उस ओर नहीं ही जायँगी, यह सुनिश्चित हो गया हो, सो बात नहीं है। पुनः जहाँ वैसा कोई अवसर आयेगा, हम असावधान होंगे, अपनी इच्छाशक्तिपर नियन्त्रण खो बैठे होंगे, कुछ क्षणों पहले हमने वैसे ही मिलते-जुलते बुरे भावोंको अपनी दुर्बलतावश मनमें स्थान दे रक्खा होगा कि बस, उस ओरसे लौटी हुई वे इन्द्रियाँ उछलेंगी और बाँध तोड़कर वैसे ही असत् पथकी ओर और भी प्रबल वेगसे भागने लगेंगी। अतः स्थितिको स्थायी बनाये रखनेके लिये यह भी परम आवश्यक है कि जैसे अपने अंदरकी इच्छाशक्तिका प्रयोग करके, दृढ़ सङ्कल्पके द्वारा हमने इन्द्रियोंको कुमार्गकी ओरसे हटाया, निषेधात्मक प्रयोगसे उन्हें शान्त किया, वैसे ही, उतनी ही दृढ़तासे पुनः उसी इच्छाशक्तिका आश्रय लेकर हम उन्हें प्रभुकी ओर प्रवृत्त करें, प्रभुकी ओर उनकी अविराम गति कर दें, निर्माणात्मक प्रयोगके द्वारा हम उन्हें नित्य, सत्य, अखण्ड, अचल, परम मङ्गलमय प्रभुसे जोड़ दें। ऐसा कर लेंगे तो फिर प्राप्त हुई स्थितिसे हमारा पतन असम्भव हो जायगा।

जैसे किसी स्रोतमें एक ओरसे जल आ रहा हो। हमने निश्चय किया कि अमुक दिशाकी ओर जल नहीं जाने देंगे; और फिर उस ओर सुदृढ़ बाँध बाँध दिया। अब जल रुक तो जायगा, किंतु उसके निकलनेका मार्ग भी हमें बनाना चाहिये। अन्यथा जल एकत्र होते-होते जहाँ बाँधकी सीमाको छूने लगा कि बाँध या तो टूटेगा या बाँधको लाँघकर जल बह चलेगा। ऐसे ही जबतक हमारी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, उनमें प्रवाह है ही। यदि हमने इच्छाशक्तिका प्रयोग करके उन्हें किसी ओर जानेसे रोक भी दिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका उस ओरका प्रवाह बंद हो गया हो। भले ही हमें दीखे नहीं; पर अन्तश्चेतनामें उनकी गति सतत उस ओर ही है। इसीलिये हमें उचित है कि उस ओरसे रोकनेके साथ-ही-साथ तुरंत हम उन्हें प्रभुकी ओर मोड़ दें। वे उस ओर मुड़ गयीं, मुड़कर प्रभुसे जुड़ गयीं, तब फिर तो सागरसे मिले हुए सोतेकी भाँति सदाके लिये प्रभुकी ओर ही बहती रहेंगी। फिर उनकी दिशा बदल जाय, फिर कुमार्गकी ओर वे दौड़ चलें, इसकी सम्भावना सर्वथा समाप्त हो जायगी।

किंतु यह तो तब सम्भव है कि जब हमारा विवेक जाग्रत् हो; यह भला है; यह बुरा है, यह सुमार्ग है, यह कुमार्ग है—इसकी हमें पूरी पहचान हो; इसकी

सजग स्मृति हमारे अंदर सदा बनी रहे। यह विवेक यदि मर नहीं गया है, तो फिर इच्छाशक्तिका प्रयोग करके हम नीचे गिरनेसे बच सकते हैं—ऊपर उठ सकते हैं, पर कभी-कभी तो ऐसा होता है कि हम सर्वथा विमोहित हो जाते हैं। क्या करने जा रहे हैं, किधर जा रहे हैं, हमारी इस चेष्टाका कितना भयानक परिणाम होगा—इन बातोंको हम सर्वथा भूल जाते हैं तथा अंधे-से, पागल-से हुए अपनेको नरककी ज्वालामें होम देनेके लिये दौड़ पड़ते हैं। उस समय इच्छाशक्ति क्या काम आयेगी? बचनेकी इच्छा हो तब न हम इच्छाशक्तिका सत्-प्रयोग करेंगे? जहाँ बचना नहीं, डूबना ही उद्देश्य है, वहाँ तो इस शक्तिकी उपयोगिता नगण्य बन जाती है। वरं ऐसी स्थितिमें किसीकी यदि इच्छाशक्ति बलवती हुई रहती है तो उसका अशुभमें प्रयोग हो जाता है और परिणामस्वरूप भीषण पतन होता है। आसुरी स्वभाववालोंकी भी इच्छाशक्ति प्रबल रह सकती है, पर उसका प्रयोग वैसे ही होता है, जैसे प्रयोग करनेवालेके आसुरी स्वभावके कारण परमोपकार करनेमें समर्थ अणु-शक्ति (एटम) का प्रयोग जनसंहारमें, फलतः परम्परागत विद्वेष और शत्रुताके विस्तारमें होता है। पर ऐसी भीषण परिस्थितिमें भी हममेंसे बहुतोंका यह अनुभव है कि ठीक मौकेपर कोई आकस्मिक, अप्रत्याशित घटना घट जाती है और आश्चर्यरूपसे हमारी रक्षा हो जाती है; पतनके किनारेसे हम लौट आते हैं, ठीक गिरते-गिरते बच जाते हैं। जो प्रभुकी सत्तामें विश्वास करना नहीं चाहते, वे तो ऐसी घटनाओंका नाम संयोग (Chance) रख देते हैं। पर जो प्रभुकी सत्तामें विश्वास रखते हैं वे इसे मानते हैं 'प्रभुकी अहैतुकी कृपा।' वास्तवमें यह संयोग (Chance) नहीं है, सर्वथा निश्चितरूपसे प्रभुकी कृपा ही है। फिर हम क्यों नहीं आरम्भसे ही प्रभुकी कृपापर ही विश्वास करें? इच्छाशक्तिमें अपार बल होनेपर भी हमें धोखा हो सकता है। उससे उलटा परिणाम भी हो सकता है, वैसे ही जैसे अग्निसे यज्ञादि शुभ कर्म भी हो सकते हैं और सब कुछ भस्म भी हो सकता है; किंतु प्रभुकी कृपापर विश्वास होनेके उपरान्त कभी धोखा नहीं होगा, यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है।

हम सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि इच्छाशक्तिको तो हमें जगाना पड़ता है, अपनी सहायताके लिये बुलाना पड़ता है, पर प्रभुकी कृपा तो सदा जागी हुई है, निरन्तर हमें बुला रही है, पुकार रही है—'अरे अबोध प्राणी! जागो, मेरी ओर देखो, क्यों भटक रहे हो?' पर हमारे कान तो दूसरी ओर हैं, हम क्यों सुनने लगे। इतनेपर भी न जाने कितनी बार वह हमारे सामने आती है, हमें खड्डेमें गिरनेसे बचाती है। साथ ही हमारी रक्षा करके हमपर अहसान करने नहीं आती, अपितु हमारा काम सँवारकर तुरंत छिप जाती है और हम ऐसे कृतघ्न हैं कि उसको भूल ही नहीं जाते, उसका अस्तित्वतक स्वीकार नहीं करना चाहते, उसके उपकारको संयोगकी बात बताकर टाल देते हैं। इसके बाद भी अत्यन्त गाढ़े समयमें वह पुनः हमारे सामने आती है और हमारी सहायता करती है। हममेंसे प्रत्येकको अपने जीवनकी घटनाओंपर विचार करनेके उपरान्त, एकमात्र प्रभुकी कृपासे ही अमुक-अमुक कार्य हुए थे—यह कहनेमें तनिक भी संकोचका अनुभव नहीं होगा। अतः यदि हम पतनसे बचनेके लिये पहलेसे ही प्रभुकी कृपापर विश्वास कर लें तो हमारी जीवनयात्रा कितनी सरल, सुखमय हो जाय।

इच्छाशक्तिमें जो बल है, वह भी आता है प्रभुके यहाँसे ही। हम आखिर हैं कौन? उन सत्-चित्-आनन्दमय प्रभुके अंश ही तो हैं। हमारे अंदर जो कुछ भी है, वह सर्वथा सब कुछ प्रभुका ही तो है। हमारे आत्माका बल ही तो इच्छाशक्तिके रूपमें प्रकाशित होता है। यह आत्मबल सर्वथा प्रभुके बलके अतिरिक्त

और क्या वस्तु है ? अवश्य ही यहाँ, प्रभुका यह बल हमारे 'अहंता' रूपी आवरणके अंदरसे प्रकाशित होता है, हमारा 'मैं' उस बलको जितने अंशमें ग्रहण कर पाता है, उसे प्रकट होनेके लिये अवकाश दे पाता है, उतने अंशमें ही वह बल व्यक्त हो पाता है। इसीलिये उसकी एक सीमा बन जाती है, और इसीलिये हमारी इच्छाशक्तिका बल भी सीमित है; किंतु प्रभुकी कृपापर विश्वास कर लेनेके अनन्तर प्रभुका जो बल व्यक्त होता है, वह असीम बनकर ही व्यक्त होता है। ऐसा इसीलिये कि जिस क्षण हम प्रभुकृपापर विश्वास करने चलते हैं, उस समय हमारा 'मैं' अत्यन्त सङ्कुचित, क्षुद्र, हल्का बन जाता है, कृपाको पूर्णरूपसे व्यक्त होनेके लिये खुला मार्ग दे देता है। फिर जहाँ वह प्रभुकृपाका बल आया कि बस, हमारे लिये असम्भव भी सर्वथा सम्भव बन जाता है। जो कार्य इच्छाशक्तिके प्रयोगसे वर्षोंमें नहीं होता, वह प्रभुकृपासे क्षणोंमें पूर्ण हो जाता है।

प्रभुकी कृपापर विश्वास करनेके उपरान्त यदि हम इच्छाशक्तिका प्रयोग करें तब फिर तो कहना ही क्या है। फिर तो वह स्वयं विशुद्ध होकर विशुद्ध लक्ष्यकी ओर जानेवाली हो जायगी और प्रभुका बल मिल जानेके कारण वह सर्वथा अव्यर्थ और अचूक बन जायगी। भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने एक पदमें अपने ऐसे ही प्रयोगका वर्णन किया है। वे कहते हैं—'रे संसार! मैं तुझे अब जान गया। तेरे अंदर अब शक्ति नहीं कि तू मुझे बाँध ले। मुझमें अब प्रभुका बल आ गया है। प्रभुके बलसे मैं अत्यन्त बलवान् हो गया हूँ, अब तू मुझे नहीं बाँध सकता। तू प्रत्यक्ष कपटका घर है, तेरे कपटमें मैं अब नहीं भूल सकता। × × × तू अपनी सेना समेट ले। हट जा यहाँसे। चला जा; मेरे हृदयमें तू नहीं रह सकता। वहाँ जाकर रह, जिस हृदयमें प्रभुका निवास न हो। मेरा हृदय तो प्रभुका निवास बन गया है। यहाँ अब तेरे लिये स्थान नहीं है, तू टिक नहीं सकता।'

> मैं तोहि अब जान्यो संसार।
> बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल प्रगट कपट आगार॥
>
> × × ×
>
> सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार॥

गोस्वामीजी यहाँ इच्छाशक्तिका ही प्रयोग कर रहे हैं, पर उनकी इच्छाशक्तिके पीछे अपनी 'अहंता'के द्वारसे झरनेवाला आसुरी बल नहीं है, अपितु प्रभुका अनन्त असीम बल—प्रभुकी कृपाका पुनीत बल है। ऐसा समन्वय तो हमारे लिये परम वाञ्छनीय है, बिना हिचक हमें यह कर ही लेना चाहिये। ऊपर उठनेके लिये, पतनसे बचनेके लिये हम यदि प्रभु-कृपाके बलसे बलवान् बनकर इस प्रकार इच्छाशक्तिका प्रयोग करें, तो हमारा जीवन भी देखते-देखते अन्धकारसे निकलकर प्रभुके आलोकमें आ जाय।

बहुत ठीक, पर ऐसा हो कैसे ? प्रभुकी कृपाकी अनुभूति हमें क्यों नहीं होती ? प्रभुका बल हमें कैसे मिले ? तो इसके लिये यह बात है कि हममेंसे ऐसा कोई भी नहीं है जो प्रभुकी अनन्त अपरिसीम कृपासे, प्रभुके अपार बलसे वञ्चित हो। हम सभीके ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, भीतर-बाहर—सर्वत्र प्रभु भरे हैं, सर्वत्र उनकी कृपा, उनका बल भरा है। उनकी कृपा हमें खींच भी रही है, उनका बल हममें निरन्तर बलका सञ्चार भी कर रहा है, हम जब उनकी ओर देखते हैं तो हमें इसका यत्किञ्चित् अनुभव भी होता है। पर सदा एवं पूर्ण अनुभव इसलिये नहीं होता कि हम अपने-आपको भूले हुए हैं। हमारा लक्ष्य अभी दूसरा है, हम प्रतीक्षा औरकी कर रहे हैं। प्रभुकी कृपाकी ओर वास्तवमें अभी हमारी दृष्टि ही नहीं। हम हैं सच्चिदानन्दमय प्रभुके अंश, पर अपनेको मानते हैं साढ़े तीन हाथका शरीर। हमारा लक्ष्य होना चाहिये प्रभुसे

भेंट, पर लक्ष्य हो रहा है विविध विनाशशील विषयोंका भोग। चाह होनी चाहिये थी प्रभुकी अनवरत बरसनेवाली कृपाके दर्शनकी, पर चाह है उस कृपाको पद-पदपर ढक देनेवाले अहंकारके विजयकी। दृष्टि होनी चाहिये प्रभुकी अहैतुकी नित्य कृपाकी ओर, अक्षय असीम बलकी ओर; किंतु दृष्टि लग रही है जगत्में प्राप्त होनेवाले मिथ्या आश्वासनोंकी ओर,—भौतिक नश्वर, सीमित बलकी ओर। इसीलिये हमें प्रभुका, उनकी कृपाका आकर्षण दीखकर भी नहीं दीखता; उनका बल हममें निरन्तर पूर्ण रहनेपर भी हम दुर्बल बने रहते हैं। अब यदि हम केवल एक काम कर लें, प्रभुकी अहैतुकी कृपापर विश्वास कर लें तो आगेका सब क्रम अपने-आप ठीक हो जाय। प्रभुकी कृपापर विश्वास होते ही सब ओरसे दृष्टि सिमटकर कृपाकी ओर लग जायगी; फिर एकमात्र कृपाकी ही प्रतीक्षा रहेगी; प्रभु ही जीवनके एकमात्र लक्ष्य हो जायँगे और फिर यह भी भान हो जायगा कि हम देह नहीं हैं, हम हैं सच्चिदानन्द प्रभुके सनातन अंश। इसके अनन्तर पद-पदपर कृपाके आकर्षणकी अनुभूति होगी, साथ ही अपने अंदर प्रभुका दैवी बल भी क्रमशः उतर आयेगा। अब हम चाहें तो इच्छाशक्तिका यह पाठ अवश्य रटना आरम्भ करें—'जो गया सो गया, अब आगे एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं होने दूँगा। प्रभुकी कृपासे संसाररूपी रात्रि समाप्त हो गयी। प्रभुने जगा दिया, मैं जाग उठा। अब कभी मायाकी सेज नहीं बिछाऊँगा, मायाके जालमें कभी नहीं फँसूँगा, माया मुझे अब कभी क्षणभरके लिये भी नहीं फाँस सकती। यह देखो, मुझे प्रभुका नाम-चिन्तामणि हाथ लग गया। इसे हृदयमें सदा सुरक्षित रक्खूँगा, क्षणभरके लिये भी इसे न भूलूँगा। अब आजसे इस क्षणसे प्रभुकी विस्मृति मुझे नहीं होगी, मेरा हृदय निरन्तर प्रभुकी स्मृतिसे पूर्ण रहेगा, प्रभुके स्मरणकी अखण्ड धारा मेरे हृदयमें निरन्तर अनन्त-कालतक बहती रहेगी। मेरा चित्त इस क्षणसे सदा निर्मल, निर्मलतर होता रहेगा। इन्द्रियाँ अब मेरे मनको विक्षिप्त नहीं कर सकतीं, मुझे मनमाना नाच नहीं नचा सकतीं, अब ये मेरी खिल्ली नहीं उड़ा सकतीं, अब तो इनपर मेरा पूर्ण अधिकार हो गया है, मैं जो आदेश दूँगा, वही ये करेंगी, सर्वथा अनुगामिनी रहेंगी। अब आजसे मेरा मन-मधुकर प्रभुपादपद्मोंमें निरन्तर निवास करेगा।'

अबलौं नसानी अब न नसैहौं।

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

सारांश यह कि अपनी इच्छाशक्तिके बलपर अपने उत्थानकी बात न सोचकर पहले प्रभुकी अनन्त अपार कृपापर हम विश्वास स्थापित करें। इस विश्वासके अनन्तर विश्वासको साथ लिये जो इच्छाशक्ति जागेगी, वह अमोघ होगी, हमें निश्चितरूपसे प्रभुकी ओर ले जाकर निर्बाध पूर्णता प्रदान करेगी। अन्यथा प्रभुके सम्बन्धसे शून्य रहनेपर अकेली वह (Personal will power) न तो शुभकी ओर ही ले जायगी, यह निश्चय है, और न वह स्थायी स्थिति ही प्रदान कर सकेगी। स्थायी परिणामके लिये तो उसे मङ्गलमय प्रभुकी ओरसे आनेवाली परम मङ्गलमयी (Positive) शक्तिसे युक्त करना पड़ेगा। प्रभुकी कृपाशक्ति कभी नहीं चूकती। विश्वास न होनेपर भी वह हमारी रक्षा करती है, फिर विश्वास करनेवालेके मार्गको वह विघ्न-बाधासे सर्वथा शून्य करके अतिशय सरल और सुगम बना दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

हम कह सकते हैं कि प्रभुपर विश्वास स्थापित कैसे करें? होता जो नहीं। तो इसका सीधा उत्तर यह है कि या तो हम प्रभुके कृपामय विधानसे आनेवाले

दुःखकी प्रतीक्षा करें। दुःख आयेगा, राशि-राशि मात्रामें आयेगा। पर आयेगा हमारी सारी मलिनताको धोकर हमारे अंदर प्रभुका विश्वास भर देनेके लिये। अथवा शास्त्रकी बात मानकर, अगणित संतोंकी बात स्वीकार करके उनके अनुभवको सुन-पढ़कर हम विश्वास कर लें। जीवनमें न जाने कितनी अनदेखी, अनसुनी बात-पर विश्वास करके हम अनेकों चेष्टाएँ करते हैं, विश्वके किस कोनेमें क्या हो रहा है, यह बिना देखे केवल समाचारपत्र पढ़कर विश्वास कर लेते हैं और उसी मान्यतापर कारोबार आरम्भ कर देते हैं। वैसे ही विश्वके समस्त सम्मान्य धर्मग्रन्थोंकी, सभी धर्मके सभी अनुभवी संत महानुभावोंकी बात मानकर प्रभुकी सत्ता स्वीकार करके नियमित रूपसे, प्रतिदिन सच्चे हृदयसे जितनी बार पुकार सकें, हम पुकारते रहें—

'प्रभु हौं जैसो तैसो तेरो।'

—बस, किसी-न-किसी दिन हमें प्रभुकी कृपापर विश्वास हो ही जायगा और वह विश्वास ही हमारे लिये महान् शक्तिका अप्रतिहत और अपरिमित पुञ्ज होगा।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(२९)

मन्दाकिनीका कल-कल नाद कैलासके उस सुरम्य उपवनको मुखरित कर रहा था। पुष्पित तरुश्रेणी, लतिकाएँ मन्द समीरका स्पर्श पाकर झूम रही थीं। राशि-राशि विकसित पद्मोंके सौरभसे समस्त वनस्थली सुरभित हो रही थी। शिखरका यह मनोरम दृश्य देवर्षिके भक्ति-रसभावित चित्तमें नवरसका सञ्चार कर रहा था, उनकी स्वरब्रह्मविभूषित देवदत्त-वीणासे झरती हुई रागलहरीमें, श्रीमुखसे निःसृत हरिगुणगानमें प्रतिक्षण नव उल्लासका हेतु बन रहा था। पर वहीं शोभा कुबेरतनय नलकूबर एवं मणिग्रीवके विषयविदूषित मनमें नव-नव भोगवासना उद्दीप्त कर रही थी, उनकी उद्दाम भोगप्रवृत्तिमें और भी आसुर भाव भरनेमें कारण बन रही थी। एक ही वस्तु पात्रभेदसे एक ही समय अमृत एवं विषके रूपमें परिणत हो रही थी। देवर्षि हरियशसुधाका पान करते हुए, सुधारससे उपवनको प्लावित करते हुए नर-नारायण-आश्रमकी ओर अग्रसर हो रहे थे तथा ये दोनों यक्षबन्धु अमर वारविलासिनियों (अप्सराओं) का दल एकत्र कर, वारुणी मदिराका पान कर, भगवान् शङ्करके इस परम पावन तपोवनको भ्रष्ट करते हुए निरङ्कुश विहार कर रहे थे। अप्सराएँ विवस्त्रा थीं, ये दोनों भी दिगम्बर थे, मन्दाकिनीकी पुनीत धारामें प्रवेश कर उन्मत्त जलक्रीड़ामें संलग्न थे, अपने-आपको भूल-से गये थे। दैवयोगवश देवर्षि ठीक उसी स्थानसे होकर निकले। अप्सराओंकी दृष्टि उनपर पड़ी; सब-की-सब सकपका गयीं और लज्जित तथा शापशङ्कित होकर बाहर निकल आयीं, तटपर आकर शीघ्र-से-शीघ्र सबने वस्त्र धारण कर लिये—

> रजत गिरि चढ़त जहँ बीचि सुरसरि बहति।
> निकट तट बिटप तहँ बेलि सुमननि लहति॥
> अमल जल कमल मकरंद झुकि झुकि झरत।
> पियत मधु मधुप कलहंस कलरव करत॥
> धनद-सुत करत तहँ केलि तरुनिनि सहित।
> मदन-मद छकित मदमत्त बसननि रहित॥
> मुनिहि लखि निलज जुग भ्रात बिलसत व्यसन।
> सकल तिय सकुचि डर मानि धर तन बसन॥

पर ये दोनों कुबेरपुत्र? आह! इन्हें तो देवर्षिके आगमनका भान होकर भी भान नहीं। वैसे ही नग्न, उन्मत्त रहकर दोनों भुजा उठाये अप्सराओंको पुनः जलमें ही अत्यन्त शीघ्र उतर आनेके लिये चीत्कार कर रहे थे!

एक अचिन्त्य शक्तिने देवर्षिकी दृष्टि उनकी ओर फेर दी। उन्होंने देखा, देखते ही अन्तःकरण करुणासे आर्द्र हो उठा—'ओह! कहाँ तो ये कुवेर-पुत्र और कहाँ इनकी यह दशा! इतना अधःपात!' तत्क्षण देवर्षिने उन्हें परिशुद्ध कर देनेकी, साथ ही उनके अनादि भवप्रवाहका भी अन्त कर देनेकी व्यवस्था कर दी। अपने परम अनुग्रहको क्रोधके आवरणमें छिपाकर, उसे शापका रूप देकर वे पुकार उठे—'जाओ कुवेरतनय! तुम. दोनों अपनी इस जडताके अनुरूप ही योनि ग्रहण करो—वृक्ष बनकर जन्म धारण करो; किंतु वृक्ष बनकर भी तुम्हारी स्मृति नष्ट नहीं होगी, मेरे अनुग्रहसे तुम्हें इस अतीत जीवनका सतत स्मरण रहेगा। सदा पश्चात्तापकी अग्निमें जलते रहोगे और फिर सौ देववर्षोंके अनन्तर श्रीकृष्णचरणारविन्दके स्पर्शका परम सौभाग्य तुम्हें प्राप्त होगा। उस पुनीत स्पर्शसे तुम्हें पुनः देवत्व प्राप्त होगा, पुनः देवशरीरमें तुम लौटोगे। साथ ही परम दुर्लभ हरिभक्ति भी तुम्हें मिल जायगी। सदाके लिये परम कृतार्थ होकर ही तुम लौटोगे—

> अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः।
> स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात्॥
> वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते।
> वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः॥
> (श्रीमद्भा० १०। १०। २१-२२)

> सुत राजराज, नहिं कीन्ह लाज।
> व्रजभूमि सोइ, द्रुम होहु दोइ॥
> करुना सुपेन, सुख-संत दैन।
> करिहैं जु घात, तब होहु पात॥
> प्रभुकौं निहारि, उर भक्ति धारि।
> फिरि जाहु गेह, धरि दिव्य देह॥

यह कहकर देवर्षि चले गये तथा नलकूबर एवं मणिग्रीव यमलार्जुनवृक्ष बनकर उत्पन्न हुए वहाँ, जहाँ वर्षोंकी प्रतीक्षा पूर्ण होनेपर गोलोकविहारी स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्रके परमधामका अवतरण हुआ—जहाँ, जिस अरण्यप्रदेशमें नन्दप्राङ्गण-का आविर्भाव हुआ। उसी प्राङ्गणके एक पार्श्वमें खड़े अपने शाखापत्रोंको प्रकम्पित कर बारंबार श्रीकृष्णचन्द्र-का वे आतुरतापूर्वक आह्वान कर रहे थे।

अतीतकी ये सारी घटनाएँ ऊखलमें बँधे श्रीकृष्ण-चन्द्रके समक्ष वर्तमान बनकर आ जाती हैं। बनकर आयीं, यह भी कथनमात्र ही है। वास्तवमें तो ये उनके लिये नित्य वर्तमान ही हैं। केवल लीलाशक्ति उन बाल्यलीलाविहारीकी रुचिका अनुसरण करते हुए, उन्हें व्यवधानशून्य रसपान करानेके लिये उनकी ही आज्ञासे, उन घटनाओंपर यथायोग्य अतीत अनागतकी यवनिका डाले रहती हैं। उपर्युक्त अवसर आते ही उसे हटा देती हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंको छूकर उन्हें जगा देती हैं, फिर श्रीकृष्णचन्द्र सब कुछ देखने लगते हैं। अस्तु, आज भी वे इसी प्रकार सब देख रहे हैं और सोच रहे हैं—

> देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।
> तत्तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना॥
> (श्रीमद्भा० १०। १०। २५)

'देवर्षि नारद मेरे प्रियतम भक्त हैं। उन महात्मा ऋषिने जिस प्रकार इन वृक्ष बने हुए कुवेरपुत्रोंके उद्धारकी बात अपने मुखसे कह दी है, ठीक उसी प्रकार मैं इनका उद्धार करूँगा, इन्हें वृक्षयोनिसे मुक्त कर पुनः देवदेह देकर अपनी भक्ति भी दे दूँगा।'

इधर गोपशिशुओंकी दशा विचित्र ही है। अपने प्रिय सखाको जननीके बन्धनसे मुक्त करनेके लिये वे अतिशय व्याकुल हैं। अपनी विविध बाल-चेष्टाओंसे सभी श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति सौहार्द एवं सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, परस्पर परामर्श करते हुए युक्ति सोच रहे हैं। साथ ही उन्हें भय है कि कहीं जननी आ न जायँ। इसीलिये सब अतिशय सावधान हैं, रह-रहकर

एक उस प्राङ्गणकी ओर जाकर देख आता है कि मैया क्या कर रही हैं। एक शिशु धीरेसे श्रीकृष्णचन्द्रके समीप जाता है। उनके ऊखलमें बँधे श्याम सुकोमल अङ्गोंको हाथसे स्पर्श करता है, पर तुरंत ही जननीके भयसे पीछेकी ओर हटकर देखने लगता है। उसके मनमें एक युक्ति सूझ पड़ती है और वह नन्दनन्दनके कानके समीप मुख ले जाकर कहता है—'अरे भैया! तू इसे खोल ले।' फिर अन्यान्य शिशुओंको भी अपने ध्यानमें आये उपायकी सूचना देता है। सभी सहर्ष उसका अनुमोदन करते हैं; कोई संकेतसे, कोई स्पष्ट, सभी धीरे-धीरे कह उठते हैं—'हाँ रे! बस, तू खोल ले और हमारे साथ भाग चल।'

अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र भी पुनः इसी रसस्रोतमें बह चलते हैं। ऐश्वर्यशक्ति जो अभी-अभी नलकूबर-मणिग्रीवकी दयनीय दशाकी सूचना देने आयी थी, गोपशिशुओंके मृदु मधुर कण्ठसे झरती हुई 'अरे खोल ले कन्हैया! खोल ले और भाग चल'की मधुधारामें न जाने कहाँसे कहाँ बह गयी और व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र इसीमें पुनः निमग्न हो गये। सखाओंका यह परामर्श स्वीकार कर अतिशय उल्लसित होकर वे अपना बन्धन खोलनेके प्रयासमें लग जाते हैं। पर खोल पायेंगे, इसकी सम्भावना सर्वथा नहीं है। खोल लेना दूर, बन्धनकी गाँठतक उनके हाथ भी नहीं पहुँच पाते। जननीने पहलेसे ही सावधानी रक्खी है। प्रथम तो उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके कटिदेश और ऊखलमें बहुत कम व्यवधान रक्खा तथा फिर गाँठ लगायी ऊखलकी उस ओर, उस स्थानपर जहाँ उनके नीलमणि अपने हाथ न ले जा सकें। इसलिये यह युक्ति व्यर्थ सिद्ध हुई। अखिल जगत्के समस्त प्राणियोंका भवबन्धन संकल्पमात्रसे खोल देनेकी सामर्थ्य रखनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रमें आज यह शक्ति जो नहीं कि वे यशोदारानीके दिये हुए उस बन्धनको खोल लें, उस ग्रन्थिको छूतक लें। असफल, निराश, निरुपाय-से हुए वे सखाओंकी ओर देखने लगते हैं।

'अच्छा, ठहर, तेरे हाथ नहीं पहुँचते, मैं खोल देता हूँ।' कहकर एक गोपशिशु बन्धन खोलनेकी चेष्टा करने लगा। उसे विलम्ब होते देखकर दूसरा उसकी सहायता करने गया। दोनोंको असफल देखकर तीसरेने प्रयास किया। इस प्रकार क्रमशः कई गोपशिशुओंने गाँठ खोलनेका प्रयत्न किया, पर खुलना दूर, गाँठ हिलीतक नहीं। गोपशिशु नहीं जानते कि गाँठ लगाते समय व्रजेश्वरीने अपने अन्तस्तलमें सञ्चित अनन्त वात्सल्यकी समस्त स्निग्धता उसमें भर दी है, अब उन गोपशिशुओंके हृत्स्रोतसे प्रवाहित सख्यरसकी धारा, भले ही वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो—वात्सल्यकी उस स्निग्धताको धो नहीं सकती। सख्यके स्रोतमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह वात्सल्यकी स्निग्धताको आत्मसात् कर ले।* इसीलिये जननीकी लगायी वह गाँठ अविचल रहती है। शिशुमण्डली उदास-सी हुई व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रकी ओर देखने लगती है।

इसी समय अवसर देखकर श्रीकृष्णचन्द्रकी सर्वज्ञताशक्ति पुनः एक बार सँभलकर अर्जुन-वृक्षोंकी स्मृति दिलानेके उद्देश्यसे सेवामें उपस्थित हुई। परंतु अपने प्रभु स्वामीकी मुखमुद्रा, गोपशिशुओंकी वह अनुपम प्रेमिल चेष्टाएँ देखकर उसे यह साहस नहीं हुआ कि प्रकट होकर कार्य कर सके। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रका वह मधुमय बाल्यावेश भङ्ग हो जननीके बन्धनसे मुक्ति पानेकी लालसामें मधुरातिमधुर वात्सल्यसुधा-रसपानमें पुनः ऐश्वर्यकी किरकिरी मिल जाय, यह तो सेवा नहीं, अपराध होता। इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रकी शिशूपम मुग्धताके आवरणमें छिपी

* वैष्णव दार्शनिकोंने सख्यरतिकी अपेक्षा वात्सल्यमें विशेषता मानी है।

रहकर ही, लीलाशक्तिके अञ्चलकी ओटसे ही सर्वज्ञताने सेवा आरम्भ की। पुनः वे यमलार्जुनवृक्ष श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्रोंके सामने आ गये और वे सोचने लगे—'मेरी मुक्तिका उपाय तो सरल है····।' उनके मुखपर उल्लास भर जाता है और वे गोपशिशुओंसे चटपट कह उठते हैं—'भैयाओ! मेरे हाथ पहुँचते नहीं और तुम सबोंसे गाँठ खुली नहीं। अब एक बड़ा ही सुन्दर उपाय है। देखो, यह ऊखल बड़ा भारी है। अकेला तो इसे मैं खींच नहीं सकूँगा। मैं भी खींचता हूँ, और तुम सब मिलकर धक्का देकर इसे पीछेसे लुढ़काते चलो। और फिर देखो, चलें वहाँ, उन यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर। देखो, दीखते हैं न? उन वृक्षोंके मध्यमें मेरे समा जाने भरको पर्याप्त स्थान है। वहाँ जाकर मैं तो उसके भीतरसे निकल जाऊँगा। पर यह ऊखल उसके भीतर जा नहीं सकेगा। साथ ही मैं इसे टेढ़ा भी कर दूँगा। फिर तो यह समा ही नहीं सकेगा, इस पार ही अटक जायगा। और तब फिर उस पारसे मैं डोरीको झटके दूँगा। जहाँ मैंने पूरे बलसे डोरी खींची कि डोरी टूटी। बस, काम हो गया।'—युक्ति सुनते ही गोपशिशुओंके हर्षका पार नहीं रहता।

विचार क्रियामें परिणत होने चला। श्रीकृष्णचन्द्र अपने दोनों घुटने एवं दोनों हाथ पृथ्वीपर टेक देते हैं। शिशु अपनी फेंटें कस लेते हैं और जो-जो उनमें अधिक बलवान् हैं, वे ऊखलको पकड़कर ठेलनेका प्रयत्न करते हैं। बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे अपनी ओर खींच रहे हैं। उनके अरुण अधरोंपर, सुचिक्कण अरुणाभ कपोलोंपर इसके सूचक चिह्न स्पष्ट अङ्कित हो जाते हैं। ऊखल भी धीरे-धीरे सरकने लगता है। लगभग अठारह मास पूर्व इसी प्राङ्गणमें श्रीकृष्णचन्द्रने रिङ्गणलीला आरम्भ की थी, घुटुरुआ चलते हुए वे खेलते थे, श्रीअङ्गोंकी शोभा उस दिन भी ऐसी-सी ही थी—

बंधुक-सुमन-अरुन पद-पंकज,
अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए
नूपुर-कलरव मनु हंसनि सुत
रचे नीड़, दै बाँह बसाए॥
कटि किंकिनि बर हार ग्रीवदर,
रुचिर बाहु भूषन पहिराए।
उर श्रीबच्छ मनोहर हरि-नख,
हेम-मध्य मनि-गन बहु लाए॥
सुभग चिबुक, द्विज-अधर-नासिका,
स्रवन-कपोल मोहिं सुठि भाए।
भ्रुव सुंदर, करुना-रस-पूरन लोचन
मनहु जुगल जल-जाए॥
भाल बिसाल ललित लटकन मनि,
बाल-दसाके चिकुर सुहाए।
मानौ गुरु-सनि-कुज आगैं करि,
ससिहिं मिलन तमके गन आए॥
उपमा एक अभूत भई तब,
जब जननी पट पीत उढ़ाए।
नील-जलद पर उडुगन निरखत,
तजि सुभाव मनु तड़ित छपाए॥
अंग-अंग-प्रति मार-निकर मिलि,
छबि-समूह लै-लै मनु छाए।
सूरदास सो क्यों करि बरनै,
जो छबि निगम नेति करि गाए॥

आज केवल इतना अन्तर अवश्य है कि कटि-देशमें एक ऊखल बँधा है तथा उससे बँधे श्रीकृष्णचन्द्र धीरे-धीरे अर्जुनवृक्षकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। उस दिन श्रीकृष्णचन्द्र स्पष्ट बोलना नहीं जानते थे, आज धीरे-धीरे स्पष्ट मधुमिश्रित कण्ठसे, बीचमें ठहर-ठहरकर गोपशिशुओंको सचेत करते जा रहे हैं कि कहीं कोई शिशु कौतूहलवश उच्च स्वरसे कुछ कह न बैठे, अन्यथा जननीके कानोंमें शब्द जाते ही वे दौड़ आयँगी और समस्त प्रयास व्यर्थ हो जायगा।

इस प्रकार रिङ्गण करते हुए क्रमशः वे अर्जुनतरुके समीप जा पहुँचते हैं। उन्हें निकट आये देखकर उन युग्मवृक्षोंकी क्या दशा हुई, इसे कौन बतावे? यह तो

सत्य है कि वृक्षोंमें भी संवेदन शक्ति होती है। उनकी सन्निधिमें होनेवाले क्रूर कर्मकी वेदना उन्हें स्पर्श करती है और वे व्यथित होते हैं; समीपमें होनेवाली किसी सुखद घटनाका स्पन्दन उनमें भी होता है और वे सुखकी अनुभूति करते हैं। यह वृक्ष-साधारणकी बात है, इन अर्जुनतरुओंके लिये तो कहना ही क्या है। ये तो शापभ्रष्ट धनदपुत्र हैं। अपने इस परिणतरूपमें भी पूर्वके देवजीवनसे लेकर अबतककी समस्त स्मृति इनमें अक्षुण्ण है। सौ देव-वर्षोंकी सुदीर्घ प्रतीक्षाके पश्चात् अपने उद्धारका क्षण उपस्थित देखकर, स्वयं ऊखलसे बँधे पर उनका बन्धन मोचन करनेके लिये भक्तवत्सल स्वयंभगवान् मुकुन्द श्रीकृष्णचन्द्रको अपने इतना निकट पाकर उनके हृदयमें एक साथ किन-किन भावोंका उन्मेष हुआ, इसे वे ही जानते हैं, अथवा जानते हैं अन्तर्यामी। बाह्यदृष्टिसे तो केवल इतना ही देखना-जानना, कहना-सुनना सम्भव है कि श्रीकृष्णचन्द्रको अपने मूलके समीप उपस्थित देखकर एक बार उन वृक्षोंमें कम्पन हुआ, उनके स्कन्ध, शाखा, पत्र—सभी चञ्चल हो उठे! वे यमलार्जुन-वृक्ष—नलकूबर-मणिग्रीव यह नहीं जान सके कि भवबन्धनमें पड़े प्राणियोंको एक बार किसी भी भावके द्वारा उनसे सम्बन्ध मान लेनेमात्रसे मुक्ति-दान करनेवाले मुकुन्द, बाल्यलीलारसमत्त श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके दिये हुए उलूखल-बन्धनसे अपनी मुक्ति पानेकी अभिसन्धि लेकर उनका आश्रय लेने आये हैं। यह जानना उनके लिये सम्भव भी नहीं। यह तो वे ही जान पाते हैं, जो अचिन्त्य सौभाग्यवश व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अथवा उनके किन्हीं परिकरकी कृपाका एक कण पाकर उनके अनन्त ऐश्वर्यको भूल जाते हैं, जिनके हृदयकी बढ़ती हुई विशुद्ध प्रेमरसधारामें श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त ऐश्वर्य सदाके लिये विलीन हो जाता है, जो सदा उस रस-प्रवाहमें ही बहते हुए केवलमात्र उनसे रागमय सम्बन्ध ही रख पाते हैं, सदा उन्हें अपना सखा, पुत्र, प्राणवल्लभके रूपमें ही अनुभव करते हैं। एकमात्र उनके लिये ही यह कल्पना, भावना, अनुभूति सम्भव है कि अनन्त ब्रह्माण्डोदर, स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आज दामोदर बने हुए, ऊखल-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये अर्जुन-वृक्षके समीप आ सकते हैं, आये हैं। उनके अतिरिक्त दूसरा नहीं जान सकता। इसीलिये यमलार्जुन-वृक्षोंको यह कल्पना नहीं हुई। उन्होंने सर्वसाधारणकी भाँति यही जाना कि अपने परम भक्त देवर्षिकी बात सत्य करनेके लिये, उनका (यमलार्जुनका) उद्धार कर उन्हें परम कृतार्थ करनेके लिये, ऊखल खींचते हुए धीरे-धीरे चलकर उनके निकट वे आ पहुँचे हैं—

> **ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः।**
> **जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ॥**
> (श्रीमद्भा० १०। १०। २४)

तथा यह देखकर ही, जानकर ही अपने शाखा-पत्रोंको स्पन्दित कर वे नाच उठे हैं।

अब विलम्बका समय नहीं है। कहीं यशोदारानी आ न जायँ! वे गोपशिशु कौतूहलभरी दृष्टिसे उन गगनस्पर्शी वृक्षोंकी ओर देखने लगते हैं। इतनेमें तो श्रीकृष्णचन्द्र युग्म वृक्षके छिद्रसे होकर उस पार जा पहुँचते हैं। छिद्रमें उनके प्रविष्ट होते ही ऊखल तो अपने आप टेढ़ा हो जाता है—

> **इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ।**
> **आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम्॥**
> (श्रीमद्भा० १०। १०। २६)

गोपशिशु उत्साहमें भरकर धीरे-धीरे बोलने लगते हैं—'वाह! वाह!! बस, कन्हैया! भैया! ऊखल अड़ गया; अब तू खींच ले, केवल एक झटका दे दे····।' बालगोपाल श्रीकृष्णचन्द्रके बिम्बविडम्बि अधरोंपर भी एक

मन्द मुसकान छा जाती है। वे दामोदर अपनी कटिसे बँधे ऊखलको तनिक अपनी ओर खींच लेते हैं। बस, फिर तो क्षणभर भी न लगा, अर्जुनतरुओंकी पृथ्वीमें धँसी जड़ें बाहर निकल पड़ीं, प्रकाण्ड मूलशाखा (धड़), अगणित उपशाखाएँ, सघन पल्लवजाल—सभी ऐसे स्पन्दित होने लगे मानो प्रबल झंझावात उन्हें लेकर उड़ चला हो। दामोदरका बाल्योचित बलप्रकाश ही उनके लिये सर्वथा असह्य हो गया और उनका अणु-अणु प्रकम्पित हो उठा। देखते-ही-देखते अत्यन्त घोर शब्द करते हुए, अतिशय वेगसे वे दोनों वृक्ष पृथ्वीपर गिर पड़े—

> बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
> दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ।
> निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
> स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ॥
> (श्रीमद्भा० १०। १०। २७)

अवश्य ही वे इस भाँति ऐसे स्थानपर गिरे जहाँ एक भी गोपशिशु नहीं, एक भी गो-गोवत्स नहीं, गृह-रचनाका कोई अंश नहीं, केवलमात्र मणिजटित समतल भूमि है। इसीलिये किसीको भी किञ्चिन्मात्र भी कोई क्षत न लगा। नन्दप्रासादके किसी अंशको तनिक भी क्षति न पहुँची; किंतु इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। वे जड वृक्षमात्र तो हैं नहीं, धनदपुत्र हैं। और अब तो श्रीकृष्ण-चरणारविन्दका स्पर्श होनेके क्षणसे ही वे उनके निजजन बन गये हैं, उनमें समस्त भक्तगुणोंका विकास हो गया है, अमितशक्ति आ गयी है। वे भला अपनी किसी भी चेष्टासे किसीको तनिक भी कष्ट दें, यह सम्भव ही नहीं। इसीलिये गिरते समय शापजन्य अपने अन्तिम प्रारब्धका अवसान करते हुए वे वहाँ स्थानके अनुरूप ही अपनी शाखाओंको यथायोग्य संकुचित करते हुए गिरे। व्रजेन्द्रनन्दनके स्पर्शसे पूत हुए नलकूबर-मणिग्रीवकी इस चेष्टामें आश्चर्यकी बात ही क्या है? आश्चर्य, महान् आश्चर्य तो यह है कि इतने विशालकाय, वज्रसारके समान युग्म अर्जुनवृक्ष ऊखल-आकर्षणके वेगसे मूलोत्पाटित होकर टूट पड़े; किंतु जननी यशोदाके वात्सल्यसे प्रेरित उनके द्वारा निर्मित आग्रहमय वह बन्धन न खुला। ऊखलमें लगायी उनकी डोरी, ग्रन्थि न टूटी। श्रीकृष्णचन्द्रका वह बन्धन न टूटा—

> चित्रं तुत्रोट तत्तत्र वज्रमज्जार्जुनद्वयम्।
> न पुनर्मातृवात्सल्यनिर्बन्धमयबन्धनम्॥
> (श्रीगोपालचम्पूः)

अस्तु, जहाँ वे वृक्ष थे, वहाँ एक परम उज्ज्वल ज्योति चमक उठती है। मानो दो वृक्षोंके मध्यमें दावानल भभक उठा। फिर दोनोंकी ज्योति एकत्र मिल जाय, उनसे दिशाएँ आलोकित हो जायँ, इस प्रकार अपनी सम्मिलित ज्योतिसे दसों दिशाओंको उद्भासित करते हुए दो सिद्धपुरुष उनके अन्तरालसे प्रकट होते हैं और उलूखलनिबद्ध श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर चल पड़ते हैं—

> तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
> सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः।
> (श्रीमद्भा० १०। १०। २८)

ये युगल सिद्ध और कोई नहीं, धनदपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें न्यौछावर होने जा रहे हैं—

> निकसे उभय पुरुष दोउ बीर, पहिरे अद्भुत भूषन चीर।
> जैसैं दारु मध्य तैं आगि, निर्मल जोति उठति है जागि।
> नंद-सुवनके पाइन परे, अंजुलि जोरि स्तुति अनुसरे।
>
> × × ×
>
> द्रुम अंतर ते कढे बिबि ब्रन्दारक सुखसींव।
> गुन मंदिर सुंदर महा नलकूबर मनिग्रीव॥

प्रेमपरवश भगवान्‌की लीला

[प्रवीर* का अलौकिक भगवत्प्रेम]

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रवीर माहिष्मती नगरीके नरेश श्रीनीलध्वजके पुत्र थे। इनकी जननी जुन्हादेवी सरल, साध्वी एवं धर्मपरायणा थीं। भगवद्भक्तिके साथ-साथ वे बड़ी स्वाभिमानिनी, वीराङ्गना और धैर्यशीला भी थीं। इनके अत्यन्त पवित्र जीवनका प्रभाव इनके पुत्र प्रवीरपर पूर्णतया पड़ा। फलतः प्रवीरमें भी सरलता, सौजन्य, सत्प्रेम और भगवद्भक्ति कूट-कूट कर भर गयी। वीरता उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे छलकती दीखती थी, पर वे निरन्तर भगवच्चिन्तन एवं उनके प्रेममें तन्मय रहा करते थे।

उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें कौरवोंको पराजित कर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर महाराज राज्य कर रहे थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके परामर्शसे अश्वमेध यज्ञ करनेका निश्चय किया। अश्व छोड़ा गया। उसकी रक्षाके लिये धनुर्धर अर्जुन नियत हुए। उनके साथ विशाल वाहिनी थी। यात्राके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनके साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की; किंतु 'इस छोटे-से कार्यके लिये आपको कष्ट देना अपेक्षित नहीं। भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर लेनेके लिये तो मैं और यह सेना ही पर्याप्त है।' कहकर अर्जुन चल पड़े। अर्जुनके मुखपर छिपी अभिमानकी रेखा खेल रही थी।

'वीरवर अर्जुनके साथ युद्ध करनेका जिन्हें साहस हो, वे इस अश्वको पकड़ें अन्यथा उपहारसहित महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञमें नियत समयपर उपस्थित हों' अश्वके मस्तकपर स्वर्णपत्रमें लिखा हुआ था। सबके आगे झूमता हुआ अश्व चला जा रहा था और उसके पीछे वीरवर अर्जुनके साथ सशस्त्र विपुल वाहिनी चल रही थी। कोई नहीं दीखता था, जो अश्वकी ओर पूर्णतया देखनेका साहस कर सके। पथमें जितने भी राजा-महाराजा मिले, सबने सर्वत्र स्वागत किया और युधिष्ठिर महाराजकी अधीनता स्वीकार की। इसी प्रकार वह अश्व माहिष्मतीके समीप पहुँचा।

प्रवीरके पिता माहिष्मतीनरेश नीलध्वज अर्जुनका नाम सुनते ही सशङ्क हो गये। उन्होंने अश्वको न पकड़नेमें ही कुशल समझी, पर इस संवादसे वीराङ्गना जुन्हादेवी क्षुब्ध हो गयीं। उन्होंने अपने पतिदेवके इस कृत्यको कायरता समझा तथा ऐसे अनेक प्रयत्न किये, जिससे वे अपने क्षत्रियत्वकी प्रतिष्ठा-रक्षाके लिये अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो जायँ; पर नीलध्वज अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुए।

पतिसे निराश होते ही जुन्हादेवी अपने प्राण-प्रिय पुत्र भक्त प्रवीरके समीप गयीं और उसे प्रतिष्ठारक्षार्थ समरमें डट जानेके लिये प्रोत्साहित करती हुई बोलीं—'बेटा! मैं तुम्हें अपने प्राणोंसे अधिक प्यार करती हूँ, साथ ही तुमसे देश, जाति और स्वाभिमानकी रक्षाकी आशा भी करती हूँ। अर्जुनकी विशाल वाहिनी अश्वमेधके अश्वके साथ तुम्हारे क्षत्रियत्वको, तुम्हारी वीरताको, तुम्हारी स्वतन्त्रता एवं तुम्हारे देशाभिमानको ललकार रही है। पर मैं चाहती हूँ कि वह यहाँसे विजयोन्मत्त बनकर न जा सके। तुम उठो! अति शीघ्र उठो!! अश्वमेधके अश्वको पकड़कर अर्जुनको उलटे पाँव लौटनेके लिये विवश कर दो। उनकी मदोन्मत्त चतुरङ्गिणीको अपने तीक्ष्ण शरोंसे वेध कर एक क्षणके लिये भी यहाँ टिकने न दो।'

* बंगालके प्रचलित लीलाभिनयों (यात्रा) में प्रवीरकी लीला की जाती है। वह बड़ी ही सुन्दर और मनोहर है। यह आख्यायिका उसीके आधारपर लिखी गयी है। प्रवीरकी कथा जैमिनीय-अश्वमेधमें भी आती है, पर वह अन्य रूपमें है

'मा ! श्रीकृष्ण-सारथि वीरवर अर्जुन !'····प्रवीर चकित होकर बोल भी नहीं पाया कि उसकी स्नेहमयी जननीने दुर्गाकी भाँति हुङ्कारकर कहा 'हाँ, वही अर्जुन ! यदि तुझे एक क्षण भी विचार करना है तो स्पष्ट बोल, मैं स्वयं युद्ध करनेके लिये अर्जुनके विशाल सैन्यमें प्रवेश करूँगी। मैं समझूँगी कि मैंने पुत्रको जन्म ही नहीं दिया था।'

'आज्ञा शिरोधार्य है माता ! तुम निश्चिन्त हो अन्तःपुरमें जाओ।' प्रवीरके इस कथनसे संतुष्ट हो माता भीतर चली गयी और प्रवीरने अर्जुनके पास पत्र भेजा, 'मैं आपका अश्व रोक रहा हूँ। आप रणाङ्गणमें आ जाइये।'

दूत उत्तर ले आया। वीर प्रवीरने पढ़ा, 'वीर ! क्षत्रियोचित पत्र पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई, एतदर्थ अत्यन्त प्रसन्न होकर मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ, किंतु तुम अभी नन्हे बच्चे हो। जीवनका आनन्द छोड़कर मृत्यु-मुखमें जानेके लिये मचलना अच्छा नहीं।'

प्रवीरने तुरंत पत्र लिखा, 'वीरवर ! कायरतापूर्ण वाणी आपको शोभा नहीं देती। युद्ध करनेकी इच्छा न हो तो आप इन्द्रप्रस्थ लौट जा सकते हैं। अश्वको मैं नहीं छोड़ सकूँगा।'

फिर क्या था। दूसरे दिन अरुणोदय होते ही समर छिड़ गया। भयंकर युद्ध हुआ। भक्तवर वीर प्रवीरके पैने बाणोंसे अर्जुन आकुल हो उठे। उन्होंने प्रद्युम्नसे कहा, 'प्रवीरकी सुकुमारताका विचार छोड़कर तुम शर-वर्षा करो।' पर प्रद्युम्नने तुरंत कहा, 'आपकी भाँति वीर प्रवीर भी मेरे पिताजीके प्रिय भक्त हैं। अतः इनकी भक्तिका ध्यान आनेपर मेरा हाथ शिथिल पड़ जाता है और मैं पूरे वेगसे युद्ध नहीं कर सकता।' इसके बाद महाबली भीम आगे आये; किंतु भगवच्चरणाश्रित भगवान्के बलसे बलवान् प्रवीरके चुटीले तीरोंके सामने उनकी एक न चली। यह दशा देखकर अत्यन्त क्रोधसे अर्जुनने आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। पर अग्निकी भीषण ज्वालाएँ प्रवीरके बाणोंकी वारि-धाराके सामने शीतल हो गयीं। इसी प्रकार अर्जुनने जिन-जिन भयंकर एवं विषैले बाणोंको प्रवीरका मस्तक छिन्न करनेके लिये चलाया, वे सभी व्यर्थ सिद्ध हुए। राजकुमार प्रवीरने अर्जुनसमेत उनके सैन्यको विकल एवं पराजित कर दिया।

अर्जुनके वीरत्वदृप्त मुख-मण्डलपर विषादकी कालिमा छा गयी। उसी समय प्रवीरने आकर कहा—'वीरवर अर्जुन ! अश्वमेधका घोड़ा इसी बलपर छोड़ा था ? मैं आपको स्पष्ट बता देता हूँ कि यदि आपको अपने प्राण प्यारे नहीं हों तब तो आप कल पुनः समरभूमिमें आइयेगा; अन्यथा अब सुखपूर्वक लौट जाइये और यहाँ उस दिन उपहार लेकर आइये, जिस दिन इस घोड़ेसे मैं अश्वमेध यज्ञ करूँगा। आप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायताके बिना मुझपर विजय कभी भी नहीं पा सकते। मुझे जीतनेकी आकाङ्क्षा मनमें हो तो श्रीकृष्णको बुलाइये, उनके दर्शनकर मैं भी कृतकृत्य हो जाऊँगा।' प्रवीर कुछ क्षणोंके लिये भगवान्के ध्यानमें तन्मय हो गया।

पर प्रवीरकी वाणी अर्जुनके हृदयमें तीरकी भाँति प्रवेश कर गयी। उन्होंने अब भगवान्के सामने अभिमानभरी वाणी कहनेकी अपनी भूलका अनुभव किया। तुरंत व्याकुल होकर भगवान्से प्रार्थना की, 'हे हरि ! हे नाथ !! हे गोविन्द !!! हे वासुदेव !! हे नारायण !!! मेरी अनुचित वाणीके लिये क्षमा करें। आप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर हैं। आप शीघ्र आकर मेरी रक्षा करें।' अर्जुनकी पुकार सुनते ही भक्तभयभञ्जन भगवान् तुरंत वहाँ प्रकट हो गये। मानो अबतक यहीं कहीं छिपे थे।

भगवान्को देखते ही अर्जुन उनके चरणोंमें गिर पड़े। प्रभुने दृष्टि फेरी तो देखा प्रवीर भी प्रभुके पावन चरणोंमें दण्डकी भाँति लेटकर प्रणिपात कर रहा है। भगवान् अर्जुन और प्रवीर दोनोंसे मिले ! प्रवीर गद्गद हो रहा था। हर्षातिरेकसे उसने कहा, 'प्रभो ! आपके दर्शन पाकर आज मैं धन्य हो गया।' उसने फिर

अर्जुनसे कहा, 'पार्थ ! मैं आपका भी ऋणी हूँ, आपकी ही कृपासे मुझे आज श्यामसुन्दरकी त्रैलोक्यपावनी मधुर मनोहर झाँकीके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अब हम अपने शिविरमें चलें। कलसे भगवान्‌के सामने ही युद्ध होगा।' फिर दोनों अपने-अपने शिविरोंमें चले गये।

प्रवीरको देखते ही देवी जुन्हाने उन्हें छातीसे चिपका लिया और कहा, 'बेटा ! तुम्हारी विजयके लिये मैं भगवती भागीरथीकी आराधना करने जा रही हूँ।' प्रवीरकी वीरहृदया धर्मप्राणा पत्नी मदनमंजरीने अत्यन्त आनन्द प्रदर्शित करते हुए कहा, 'भगवान् श्रीकृष्णको अपनी भक्तिसे प्रसन्न करके मैं भी आपकी विजयके लिये उनसे प्रार्थना करूँगी।' प्रवीर भी भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन था।

आधी रात बीत गयी। इधर प्रवीरपत्नी मदनमंजरीने अर्जुनके सुषुप्त सैन्यमें प्रवेश किया। उसके हाथमें लम्बी नंगी तलवार थी। प्रहरीके स्थानपर भगवान् शङ्कर त्रिशूल लिये खड़े थे। उन्होंने मदनमंजरीका परिचय और अर्द्धरात्रिमें नंगी तलवार लेकर शिविरमें आनेका कारण पूछा।

मदनमंजरीने निस्संकोच सत्य कह दिया, 'मैं प्रवीर-पत्नी हूँ। अपने पतिके प्राणोंकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हूँ।'

भगवान् शङ्कर बोल उठे, 'यह सम्भव नहीं। भगवान् सो रहे हैं। तुम वापस लौट जाओ।'

'यदि ऐसा ही है तो फिर आपके ही चरणोंमें यह मस्तक अभी लोट जायगा' कहते हुए मदनमंजरीने तलवार ऊपर उठा ली।

भगवान् शङ्करने अपना परिचय देते हुए कहा, 'मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ और कैलाश जा रहा हूँ। यहाँसे प्रयाण करनेके पश्चात् मेरा कोई दायित्व नहीं है।'

मदनमंजरी श्रीकृष्ण-शिविरके द्वारपर पहुँची तो द्वारपालने डाँटते हुए वहाँ उपस्थित होनेका कारण पूछा। मदनमंजरीने विनम्रतासे द्वारपालको भी उत्तर दे दिया 'अपने प्राणधनके प्राणोंकी भीख माँगने महाराज नीलध्वजकी पुत्र-वधू भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंके समीप जाना चाहती है।'

द्वारपालने कहा, 'यहाँसे लौट जाओ। प्रभु इस समय शयन कर रहे हैं।'

मदनमंजरीने तलवार तान ली और कहा, 'यदि आप भगवान्‌के समीप नहीं जाने देते तो मैं अभी अपना मस्तक काटकर आपके चरणोंमें समर्पित करती हूँ।'

द्वारपालने मदनमंजरीका हाथ पकड़ लिया, पर उसने देखा—ये तो वे ही त्रैलोक्यनाथ मदनमोहन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जिनके लिये वह प्राणोंपर खेलकर आयी थी। वह प्रभुके चरणोंपर लोट गयी। कुछ देर बाद उसने कहा, 'प्रभो ! आप तो अन्तर्यामी हैं। पर कहे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। प्रातःकाल ही धनुर्धर अर्जुनसे मेरे पतिदेवका युद्ध होगा। धनुर्धर अर्जुनको आपकी सहायता प्राप्त है और आपकी सहायता पाकर वे जो चाहे कर सकते हैं। इस कारण मैं अपने जीवन-धनके प्राणकी आपसे भीख माँगती हूँ।'

अपनी कौमोदकी गदा और सहस्रार सुदर्शन चक्र उसके हाथमें देते हुए भक्तवत्सल करुणामय भगवान्‌ने कह दिया 'इसे जबतक प्रवीर अपने पास रक्खेगा, युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा।' मदनमंजरीने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और द्रुतगतिसे लौटकर दोनों आयुध अपने पतिको दे दिये। भगवान्‌की बात भी बता दी।

उधर धर्मपरायणा जुन्हादेवीने श्रीगङ्गाजीको सन्तुष्ट कर लिया और श्रीशिवजीसे प्रार्थना करनेके लिये कहा कि 'वे अपने त्रिशूलके साथ प्रवीरकी ओरसे युद्ध करें।' श्रीगङ्गाजीकी प्रार्थना सुनते ही आशुतोषने कहा, 'अर्जुनके साथ श्रीकृष्ण हैं और उनके सामने समरभूमिमें उतरना मेरे लिये सम्भव नहीं।'

प्रातःकाल होते ही अर्जुन अपने सखाके पास पहुँचे तो देखा कि वे उदास और चिन्तित मुद्रामें अवनत-मुख बैठे हैं। अर्जुनको देखते ही उन्होंने कहा, 'बन्धुवर! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर अपने दोनों आयुध मैंने उसे समर्पित कर दिये और जबतक वे आयुध उसके पास हैं, तुम उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। मेरी उपस्थितिसे प्रत्येक समय तुम्हारे शुभमें विघ्न ही उपस्थित हो जाता है।'

भगवान्‌की वाणी सुनते ही भीम क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा, 'आपको सोच-विचारकर वरदान देना था। आप हमारी रक्षा करनेके लिये आये हैं कि और भी विपत्ति लादनेके लिये यहाँ पहुँचे हैं।' पर भीमको चुप करते हुए अर्जुनने बड़ी विनयसे सरल विश्वासपूर्वक कहा, 'यह क्या कहते हैं प्रभो! आपकी प्रत्येक क्रियामें मङ्गल छिपा है इसपर मेरा दृढ़ विश्वास है। इस आयुध-दानमें भी मेरा कोई हित ही है। मैं पूर्ण निश्चिन्त हूँ। आप मेरे सर्वस्व हैं। आपहीने इस यज्ञके अनुष्ठानकी प्रेरणा एवं इसकी निर्विघ्न समाप्तिका वचन दिया है। आप जैसा उचित समझें वैसा करें।'

भगवान् श्रीकृष्ण चुप थे। उन्हें अपने ऊपर निर्भर अर्जुनकी चिन्ता थी। वे बोल नहीं पा रहे थे। अर्जुनने पुनः कहा, 'प्रभो! प्रातः हो चला। युद्धका समय आया ही चाहता है। अब आपकी क्या आज्ञा है?'

भगवान्‌ने कहा, 'आओ श्रीशङ्करजीके पास चलें। वे कोई युक्ति सोचकर बता सकते हैं।' इच्छा करते ही दोनों भगवान् श्रीशङ्करजीके समीप पहुँच गये। वहाँ श्रीकृष्णने कहा, 'भगवन्! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिपर मुग्ध होकर मैंने अपनी कौमोदकी गदा तथा चक्र भी उसके पतिके लिये दे दिया। वे जबतक प्रवीरके पास रहेंगे युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा। अब अर्जुन कैसे विजयी हों, इसीका उपाय जाननेके लिये हम दोनों आपकी सेवामें आये हैं।'

श्रीशङ्करजी बोले—'सर्वज्ञ होकर भी आपने उसे वरदान कैसे दे दिया?' श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'जिस प्रकार उसकी भक्तिपर मुग्ध होकर आप रात्रिमें ही कैलाश चले आये? उसी प्रकार भक्तिविवश होकर मुझे भी वरदान देना पड़ा।'

भगवान् शङ्करने धीरे-धीरे कहा, 'मैं भी बड़े असमञ्जसमें पड़ गया हूँ। उधर प्रवीरकी माता जुन्हाकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर श्रीगङ्गाजी प्रवीरके पक्षमें त्रिशूल लेकर अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये आग्रह कर रही हैं। इधर आपका अनुरोध है। ऐसी दशामें मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं किसी भी पक्षकी ओरसे युद्धभूमिमें नहीं उतरूँगा।'

निराशाभरे स्वरोंमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा, 'भाई अर्जुन! मेरी पहुँच तो यहींतक थी और इन्होंने स्पष्ट उत्तर दे दिया। अब क्या किया जाय?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'महाराज! मैं तो कुछ नहीं जानता। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि आप जो कुछ करेंगे, उसीमें मेरा अवश्य हित होगा। हाँ, युद्धका समय समीप आ रहा है।'

भगवान्‌ने एक क्षण सोचा और दूसरे ही क्षण वे अर्जुनके साथ भगवती उमाके पास पहुँच गये। वहाँ उन्होंने श्रीयुधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान एवं प्रवीरकी बाधा तथा अपने आयुधद्वय एवं वरदान देनेकी बात भी सुना दी और अर्जुनकी विजयकी प्रार्थना करते हुए कहा कि 'यदि आप समरभूमिमें मोहिनी रूपमें आकर उससे आयुध ले लें तो हम दोनों निश्चिन्त हो जायँ।' भगवती उमाने 'तथास्तु' कह दिया। श्रीकृष्ण तो यही चाहते थे। अर्जुनके साथ लौट पड़े।

अर्जुन युद्धभूमिमें पहुँचे तो उन्होंने देखा, प्रवीर अपनी विशाल वाहिनीके साथ युद्धकी प्रतीक्षा कर रहा है। युद्ध प्रारम्भ होना ही चाहता था कि प्रवीरने अपनी आँखोंके सामने आकाशमें एक नव-यौवनसम्पन्ना अपूर्व

लावण्यवती सुन्दरीको देखा। विश्वमें ऐसी सुन्दरता होती है, इसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। भगवान्‌की अघटन-घटना-पटीयसी मायाने जितेन्द्रिय भक्त प्रवीरकी मतिमें मोह उत्पन्न कर दिया और वह एक विषयी कामासक्त मनुष्यकी भाँति उस देवीसे प्रणय-याचना करने लगा। मायाकी ऐसी ही महिमा है।

परम सुन्दरी देवीने कहा, 'युद्धभूमिमें प्रेमकी बात प्रलाप-सी लगती है। यदि तुम सचमुच प्रेमदान चाहते हो तो अपने दोनों आयुध फेंक दो।' मायामोहित प्रवीर इस समय मूढ़ बन गया था। उसने श्रीकृष्णप्रदत्त दोनों आयुध फेंक दिये। भगवती उन्हें उठाकर तुरंत अन्तर्धान हो गयीं। मायाका पर्दा हटा। प्रवीरकी आँखें खुलीं तो उसने मन-ही-मन पश्चात्ताप करते हुए कहा कि 'मैंने क्या अनर्थ कर डाला।'

अन्तमें उसने सोचा, कदाचित् यह कृत्य भगवान्‌ने ही किया है। प्रेमपूर्वक रोष प्रकट करते हुए उसने भगवान्‌से कहा, 'प्रभो! वे अस्त्र यदि माया करके ले ही लेने थे तो आपने देनेका नाट्य क्यों किया?' भगवान्‌ने उत्तरमें कहा, 'प्रियवर प्रवीर! मैंने अस्त्र नहीं लिये हैं। यदि मुझे ही उन्हें लेना होता तो मैं देता ही क्यों?' प्रवीर तुरंत बोल उठा 'प्रभो! यदि ऐसी बात है तो आपके लिये अर्जुनकी सहायता करनी उचित नहीं। मैं भी आपको अपने प्राणोंसे अधिक मानता हूँ। आपके चरणोंमें मेरी अनुरक्ति कम नहीं है।'

प्रवीरकी बात सुनते ही अर्जुनने कहा, 'प्रभो! मैंने आपको युद्धमें सहायता देनेके लिये बुलाया है। प्रवीरमें शक्ति न हो तो अश्व छोड़ दे।' प्रवीरने रोषपूर्वक उत्तर दिया, 'अश्व मैंने छोड़नेके लिये नहीं पकड़ा है।' फिर क्या था—दोनों ओरसे घनघोर शर-वर्षा होने लगी। आकाश तीखे बाणोंसे आच्छादित हो गया, पर अर्जुनकी एक न चली, वे पराजित होने लगे।

भगवान्‌ने कहा, 'अर्जुन! भक्तके प्रभावको देख लो। मेरे सहायता करनेपर भी वह तुम्हें पराजित कर रहा है।' अनवरत बाणवर्षा करते हुए अर्जुनने उत्तर दिया, 'प्रभो! इसीलिये तो मैंने आपको बुलाया है। अब मैं आपकी कृपासे इसे तुरंत पराजित कर देता हूँ।'

अर्जुनने अपने पैने बाण फेंके, पर प्रवीरने उन्हें बीचमें ही खण्ड-खण्ड कर दिया। अर्जुन जो भी अस्त्र क्रुद्ध होकर चलाते, प्रवीर उसे ही नष्ट कर देता, पर अन्ततः उस दिन अर्जुनने प्रवीरको पराजित किया।

प्रवीरने रोषपूर्वक कहा, 'अर्जुन! इसे मैं आपकी नहीं अपितु प्रभुकी विजय मानता हूँ। प्रभुके बिना आप मुझे पराजित कर दें तो मैं आपको वीर समझूँ।' अर्जुन बोले, 'मैंने जब भगवान्‌को बुलाया है, तब उन्हें क्यों छोड़ूँ। तुम्हें युद्ध न करना हो तो वापस चले जाओ।'

अर्जुनकी यह बात सुनते ही भक्त प्रवीरने प्रभुसे कहा, 'स्वामी! आप तो सबके हैं, फिर युद्धभूमिमें यह पक्षपात कैसा?' उसने देखी प्रभुकी विश्वमोहिनी मुसकान। फिर क्या था। उन्हें सन्तुष्ट देखकर प्रवीरने अर्जुनके रथसे खींचकर उनको अपने रथपर बैठा लिया। भगवान्‌ने लगाम ले ली। अत्यन्त गर्वके साथ प्रवीरने कहा, 'अर्जुन! अब जी भर युद्ध कर लें। अब आपको या तो प्राण लेकर भागना पड़ेगा या सदाके लिये यहीं शयन करना होगा।'

प्रवीरको कोई भी उत्तर न देकर अर्जुनने भगवान्‌से कहा, 'भगवन्! मैं आपके बिना नहीं जी सकता। आप मेरे रथपर आ जाइये। मैंने आपको बुलाया है।' भगवान्‌ने अर्जुनके रथपर आकर घोड़ेकी लगाम सँभाल ली।

उदास होकर प्रवीरने कहा, 'प्रभो! कम-से-कम एक युद्धमें तो आप मेरे सारथि बन जाते!' फिर उसने अर्जुनसे कहा, 'आज मैं आपका पौरुष देखूँगा।'

अर्जुन बड़ी सावधानीसे अपने तीक्ष्ण शरोंकी वर्षा करने लगे, पर प्रवीर साधारण वीर नहीं था। उसके सामने अर्जुन विचलित होने लगे। इसी बीचमें भगवान् बोल उठे, 'मेरी सहायता पाकर भी तुम विजय नहीं

प्राप्त कर रहे हो।' प्रबल आग्नेयास्त्र फेंकते हुए अर्जुनने कहा, 'महाराज! थोड़ा धैर्य रखिये, मैं इसे अभी परास्त करता हूँ।'

परंतु वे विफल रहे। अन्य कई दिव्यास्त्रोंके प्रयोगसे प्रवीर परास्त हुआ, पर उसने अर्जुनको फटकारते हुए कहा, 'दूसरोंके बलपर युद्ध करनेवाले शूर नहीं कहे जाते। भगवान्‌के बिना आप मुझे परास्त कर सकें, ऐसी सामर्थ्यका आपमें लेश भी नहीं है।'

फिर उसने भगवान्‌से कहा, 'प्रभो! आप हम दोनोंके हैं। आप अब अर्जुनका रथ हाँकना छोड़कर निष्पक्ष-भावसे हम दोनोंका युद्ध-कौशल देखें, फिर आप समझ लेंगे कि वस्तुतः वीर योद्धा कौन है और आज अर्जुन भी समरका स्वाद चख सकेंगे।'

भगवान् हँसने लगे। भक्तवर प्रवीरने भगवान्‌को सन्तुष्ट जानकर पुनः उनको अर्जुनके रथसे खींच लिया और पासहीके तालवृक्षसे बाँध दिया। फिर उसने अर्जुनसे कहा, 'अर्जुन! अब आप अपनी वीरताका परिचय दीजिये। अब मैं आपको युद्ध करनेका फल चखाता हूँ।' पर अर्जुनने करुण नेत्रोंसे भगवान्‌की ओर देखकर कहा, 'प्रभो! क्या मैंने आपको इसीलिये बुलाया था? कौरवोंकी सभामें जब महाबलशाली योद्धा भी आपको नहीं बाँध सके तो यहाँ आप कैसे बँध गये हैं? मैं व्याकुल हो रहा हूँ देव! आप शीघ्र आइये मेरे रथकी बागडोर सँभालिये।' जिनके एक नामसे सारे बन्धन कट जाते हैं वे ही अचिन्त्यशक्ति भगवान् आज अपने प्रेमी भक्तकी प्रेम-रज्जुसे बँधे हैं। पर दूसरी ओर भी वैसा ही भक्त है। उसकी दीन वाणी भी भगवान्‌को खींच रही है। भगवान् अर्जुनकी दीन वाणी सुनते ही रस्सी तुड़ाकर उसके रथपर आकर बैठ गये और रथ हाँकने लगे। भगवान्‌की आज विचित्र दशा है। वे प्रेमी भक्तोंकी खींचातानीमें प्रेममय होकर आश्चर्यमयी क्रीड़ा कर रहे हैं!

प्रवीरसे रहा नहीं गया। उसने पुनः भगवान्‌से कहा, 'प्रभो! बड़ा आश्चर्य है, कुछ क्षण भी तटस्थ होकर आप दो भक्तोंका युद्ध और वीरत्व तो देखते, पर आपकी जैसी इच्छा!' उसने पुनः अर्जुनको सम्बोधित कर कहा, 'वीरता नामकी कोई वस्तु आपमें नहीं है। दूसरोंके सहारे वीरोंको पराजित करनेका प्रयत्न तो समरभूमिमें बड़ा ही अशोभन है।' और उसने रोषमें आकर इतने तीक्ष्ण शरों एवं दिव्यायुधोंकी वर्षा की कि अर्जुन विकल हो उठे और उनकी सारी सेना क्षत-विक्षत होकर छिन्न-भिन्न हो गयी। यहाँ भी भगवान्‌की ही लीला कार्य कर रही थी।

इसपर आश्चर्य प्रकट करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा, 'जब एक प्रवीरके सम्मुख ही तुम्हारी यह दशा है तो तुम अन्य योद्धाओंके सामने क्या कर सकोगे?' अर्जुनने तुरंत अपनी भागती सेनाको क्षत्रियोंकी वीरगति एवं उनकी मर्यादाका ध्यान दिलाकर युद्धके लिये प्रोत्साहित किया। विशाल वाहिनी पुनः पूरी शक्तिसे प्रवीरकी सेनासे भिड़ गयी। अर्जुन भी अपने बाणोंकी अपूर्व वर्षामें संलग्न हो गये। दोनों पक्ष अपनी विजयके लिये शक्ति-प्रयोग कर रहे थे। इस प्रकार होते-होते अन्तमें आज प्रवीर हार गया और अर्जुनकी विजय हुई।

किंतु वीर प्रवीरको तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उसने पुनः अर्जुनको डाँटा, 'अर्जुन! आप सच्चे वीरत्वको स्वीकार कीजिये। यदि श्रीकृष्णके बिना आप युद्ध करें तो आपको प्राण-रक्षामें भी कठिनता हो जाय।' फिर उसने भगवान्‌से कहा, 'स्वामी! मैं भी आपका भक्त हूँ, पर आप अबतक अर्जुनमें और मुझमें अन्तर समझते हैं! ऐसा क्यों करते हैं नाथ! मुझे आपसे बड़ी आशा है।'

भगवान् हँस पड़े। प्रवीरने उन्हें अपने अनुकूल समझकर तुरंत खींच लिया और पासहीके तालवृक्षसे पुनः कसकर बाँधते हुए कहा, 'प्रभो! अबकी बार

प्रतिज्ञा कीजिये कि किसीका पक्ष न लेकर निष्पक्ष-भावसे युद्ध देखूँगा।' प्रभुने हँसते हुए मौन स्वीकृति दे दी।

फिर क्या था, प्रवीर झटसे कूदकर अपने रथपर जा चढ़ा और शर-सन्धान करते हुए बोला, 'पार्थ! अब आप प्राण बचाकर भागने या यहीं सदाके लिये सो जानेको प्रस्तुत हो जाइये। प्रभु प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं।' प्रभु बँधे हुए हँस रहे थे। मानो आज उन्हें अपनी इस विवशतामें ही आनन्द मिल रहा है।

पर अर्जुन प्रभुकी ओर देख रहे थे। उन्होंने कहा, 'देव! यह क्या लीला कर रहे हैं। मेरे प्राणोंपर आ बनी है। अब मैं अधीर हो गया हूँ। कौरव-युद्धके समय आपने मेरी रक्षाके लिये शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी, पर भक्तके लिये उसे तोड़ दिया। वही आपका प्राणप्रिय अर्जुन मरना चाहता है, इसलिये आज फिर प्रतिज्ञा तोड़िये और शीघ्र आकर मेरी रक्षा कीजिये।' भगवान् तुरंत अर्जुनके रथपर प्रकट हो गये। वे वैसे ही हँस रहे थे।

प्रवीरने व्याकुल होकर कहा, 'प्रभो! यह आपने क्या किया। आपने अपनी प्रतिज्ञा भी तोड़ दी?' भगवान्ने तुरंत कहा, 'मैंने तो कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी।'

भक्त प्रवीरने प्रणय-रोषसे कहा, 'प्रभो! आप असत्य बोलेंगे तो धराका क्या होगा? आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं चुपचाप युद्ध देखूँगा। पर आप पुनः अर्जुनके रथपर आकर बैठ गये।'

भगवान्ने कहा, 'जिसने प्रतिज्ञा की थी उससे कहो भैया!' प्रवीरने तालवृक्षकी ओर देखा तो भगवान् वहीं बँधे खड़े थे। उसने एक बार तालवृक्ष और एक बार अर्जुनके रथकी ओर देखा। अब एक ही भगवान्के दो रूप हो गये थे। प्रवीरने अर्जुनसे कहा, 'अर्जुन! आप महान् धन्य हैं और आपके माता-पिता सभी धन्य हैं, जिनके लिये भगवान्को दो रूप धारण करने पड़े।'

प्रवीर भगवान्के दोनों रूपोंको देखने लगा। उसके हृदयमें छिपा हुआ प्रेमसमुद्र प्रकट होकर उमड़ चला। वह अपने-आपको भूल गया। भगवान्की नित्य नवनवायमान सुर-मुनि-मनमोहिनी रूपमाधुरीने प्रवीरपर ऐसा विलक्षण जादू किया कि प्रवीरका बाह्य ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया। वह उस अलौकिक रूप-सुधा-सागरमें डूब गया।

इसी समय भगवान्ने अर्जुनसे कहा, 'पार्थ! तुम अति शीघ्र प्रवीरका मस्तक उतार लो।' अर्जुन बोले, 'प्रभो! प्रवीर युद्ध छोड़कर आपके ध्यानमें तल्लीन है, ऐसी अवस्थामें इसे मारना धर्मविरुद्ध है।'

भगवान् तुरंत बोल उठे, 'अर्जुन! मेरे भक्त प्रवीरको युद्धमें सम्मुख मार सकनेकी सामर्थ्य किसमें है? यह मेरी इच्छा है कि मेरा भक्त मेरे ध्यानमें निमग्न रहता हुआ ही मेरे परम धाममें पहुँच जाय। मेरी आज्ञा है, तुम इसे मार डालो। तुम्हें पाप नहीं लगेगा।'

अर्जुनने एक अत्यन्त तीक्ष्ण अर्द्धचन्द्राकार दिव्य शर छोड़ा, जिससे प्रवीरका मस्तक कटकर उछला और भगवान्के चरणोंमें जा गिरा। उसमेंसे एक परम ज्योति निकली और वह श्रीभगवान्के मङ्गलमय श्रीविग्रहमें समा गयी। प्रवीरका प्राणान्त होते ही उसकी बची-खुची सेना भाग गयी। माहिष्मतीमें शोक छा गया।

प्रवीरकी मृत्युका समाचार सुनकर उसके पिता विलाप करने लगे और पुत्र-शोकमें रोती हुई परंतु पुत्रकी वीर तथा भक्त-गतिसे गर्विता उसकी माताने कहा, 'बेटा! तुम अर्जुनके बाणसे कटकर प्रभुके धाममें गये और मैं वीर क्षत्रियकुमारकी माता सिद्ध हुई। मेरा जन्म सफल हुआ।'

इसी बीचमें भगवान् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने विलाप करती हुई जुन्हादेवीसे कहा, 'आप चिन्ता न करें। यदि कहें तो प्रवीरको पुनः जीवित कर दूँ।' जुन्हादेवीने कहा, 'प्रभो! आपके सम्मुख मृत्यु पाकर पुनः कौन जीवित होना चाहेगा, पर मैं चाहती हूँ कि हम दम्पतिको भी वही गति प्राप्त हो, जो आपने पुत्रको दी है।'

भगवान्ने 'तथास्तु' कहते हुए कहा, 'अब महाराज

नीलध्वज अर्जुनको आदरपूर्वक विदा करें तथा युधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध यज्ञमें नियत समयपर भेंटके साथ उपस्थित हों, वहाँपर पुनः मेरा दर्शन होगा।' और प्रभु अन्तर्धान हो गये।

भगवान्‌के आदेशानुसार नीलध्वजने अर्जुनको अत्यन्त सत्कारपूर्वक विदा किया और वे भगवान्‌के भजनमें संलग्न हो गये! पतिव्रता मदनमंजरी भी पतिके साथ सती होकर भगवान्‌के परमधाममें पहुँच गयी!

ईश्वर-प्रार्थनापर महात्मा गाँधीजीके उद्गार

(सङ्कलित)

ईश्वर-प्रार्थनाने मेरी रक्षा की। प्रार्थनाके आश्रय बिना मैं कबका पागल हो गया होता। अन्य मनुष्योंकी भाँति मुझे भी अपने सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवनमें अनेक कटु अनुभव प्राप्त हुए। उनके कारण मेरे भीतर कुछ समयके लिये एक प्रकारकी निराशाको दूर करनेके लिये मुझे कुछ सफलता हुई, तो वह प्रार्थनाके ही कारण हो सकी। सत्यकी भाँति प्रार्थना मेरे जीवनका अङ्ग बनकर नहीं रही है। इसका आश्रय तो मुझे आवश्यकतावश लेना पड़ा। मेरी ऐसी अवस्था हो गयी कि मुझे प्रार्थनाके बिना चैन पड़ना कठिन हो गया। ईश्वरमें मेरा विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, प्रार्थनाके लिये मेरी व्याकुलता भी उतनी ही दुर्दमनीय हो गयी। प्रार्थनाके बिना मुझे जीवन नीरस एवं शून्य-सा प्रतीत होने लगा।

जब मैं दक्षिणी अफ्रीकामें था, उस समय मैं कई बार ईसाइयोंकी सामुदायिक प्रार्थनामें सम्मिलित हुआ; परंतु उसका मुझपर प्रभाव नहीं पड़ा। मेरे ईसाई मित्र ईश्वरके सामने अनुनय-विनय करते थे; किंतु वैसा मुझसे नहीं बन पड़ा। मुझे इस कार्यमें बिल्कुल असफलता रही। परिणाम यह हुआ कि ईश्वर एवं उनकी प्रार्थनामें मेरा विश्वास उठ गया और जबतक मेरी आस्था परिपक्व न हो गयी, मुझे उसका अभाव बिल्कुल नहीं खला; परंतु अवस्था ढल जानेपर एक समय ऐसा आया जब मेरी आत्माके लिये प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य हो गयी, जितना शरीरके लिये भोजन अनिवार्य है। सच पूछिये तो शरीरके लिये भोजन भी उतना आवश्यक नहीं है, जितनी आत्माके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता है; शरीरको स्वस्थ रखनेमें कभी-कभी उपवास आवश्यक हो जाता है, किंतु प्रार्थनारूप भोजनका त्याग किसी प्रकार भी हितकर अथवा वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। प्रार्थनाकी अजीर्णता तो कभी हो ही नहीं सकती।

....लोग मेरी आन्तरिक शान्ति देखकर मुझसे ईर्ष्या करने लगते हैं। वह शान्ति मुझे और कहींसे नहीं, ईश्वर-प्रार्थनासे मिली।....किसीके मनमें ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न करा देना मेरी शक्तिके बाहर है। बुद्धिका अवलम्बन भ्रमजनक होता है, क्योंकि तर्कपूर्ण युक्तियोंसे चैतन्यरूप ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न नहीं कराया जा सकता। ईश्वर बुद्धिजन्य वस्तु नहीं हैं, वे बुद्धिसे अतीत हैं। यदि एक बार आपने ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार कर लिया, तो फिर आपसे प्रार्थना किये बिना रहा नहीं जायगा। यह ठीक है कि ईश्वर यह नहीं चाहते कि हम प्रतिदिन अपनी शरणागतिका उनके सामने हवाला दें; किंतु हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हम ऐसा करेंगे, तो फिर कोई भी दुःख हमें नहीं सतायेगा।

नाथ-भागवत

(लेखक—श्रीवि० ह० वर्षे एम्० ए०, साहित्य-विशारद)

[गताङ्कसे आगे]

श्रीएकनाथजीका कहना है कि विषयोंकी नश्वरताको समझकर इनके मोह-जालसे छूटनेके लिये सुयोग्य सद्गुरुकी शरणमें जाना नितान्त आवश्यक है। उन्होंने सुयोग्य सद्गुरुके लक्षण भी बतलाये हैं। वे कहते हैं कि सद्गुरुका प्रथम लक्षण है आत्मानुभूति, जो शिष्यको अपरोक्ष ज्ञान करा देता है, वही 'सद्गुरु' कहलानेका अधिकारी है। इस प्रकारका आत्मज्ञानी न तो विषयोंका त्याग करता है और न आसक्तिपूर्वक उनको ग्रहण ही करता है। उन दोनोंको नियतिके हाथमें सौंपकर वह परब्रह्मस्वरूपमें निमग्न रहता है। प्रारब्धवश उनकी देह पालकीमें बैठे या विष्ठामें गिरे, किसीमें भी उसे सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती। उसका ज्ञान केवल शाब्दिक नहीं होता। जिस प्रकार केवल अमृत कहनेमात्रसे अमृतकी माधुरीका अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार केवल शब्दज्ञानसे आत्मज्ञानकी माधुरीका अनुभव नहीं होता। अतः वह शिष्यको शाब्दिक उपदेश एवं आत्मज्ञानका अनुभव—इन दोनोंसे कृतार्थ करता है। सद्गुरु-कृपाके पश्चात् शिष्यका बाध्य-बाधकताका भ्रम नष्ट हो जाता है। उसके मनसे द्वैतकी भावना चली जाती है। उसके लिये संसारकी विषमता नष्ट हो जाती है। श्रीएकनाथजीका कहना है कि आत्मज्ञान दान करनेका सामर्थ्य जिनमें है, उनका अन्तिम लक्षण है उनकी शान्ति। उनमें पूर्ण शान्ति निवास करती है। अपनी उस परम शान्तिका लाभ सद्गुरु अपने प्रिय शिष्यको देता है। अतः मायासे मुक्त होनेकी जो इच्छा करता हो, उसे सद्गुरुकी शरणमें जाना ही चाहिये। उनकी शरण जानेसे सद्गुरु भागवत-धर्मोंका उपदेश करते हैं, और फिर उन धर्मोंके आचरणसे साधक मायासे छूट सकता है।

सद्गुरु जिन भागवत-धर्मोंका उपदेश शिष्यको करता है, उनका विस्तृत वर्णन श्रीएकनाथजीने किया है। 'अहिंसा सत्यमस्तेयम्' आदि श्लोकोंसे मूलभागवतमें उनका वर्णन है। स्थानाभावके कारण उन सबकी चर्चा यहाँ करना कठिन है; किंतु उदाहरणके रूपमें ३–४ शब्दोंके ऊपर श्रीएकनाथजीने जो टीका लिखी है, उसका सारांश यहाँ दिया जा रहा है। उससे मूलभागवतके अर्थमें उन्होंने कई स्थलोंपर किस प्रकार परिवर्तन किया है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने 'निःसङ्गता, शौच, मौन और संतोषो येन केनचित्' इन चार भागवत धर्मोंका जो विवेचन किया है, उसका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार है—

'निःसङ्गता'—ऐहिक वस्तुओंका सङ्ग न करना सबसे अच्छा है; किंतु असत्सङ्गको टालनेके लिये पहले सत्सङ्ग करना चाहिये। सब प्रकारके असत्सङ्गोंमें देहसङ्ग या देहात्मबुद्धि सबसे बुरा असत्सङ्ग है। इस देहबुद्धिका नाश करनेके लिये इकट्ठे हुए अध्यात्मप्रवण संतोंके समीप जाकर उनकी सेवा करनी चाहिये। उनसे अध्यात्मज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ होना चाहिये।

'शौचम्'—वासनाके मलसे मन मलिन रहता है। उसे श्रद्धेय सद्गुरुके उपदेशरूपी जलसे धोना चाहिये। सद्गुरु-उपदेशके सहारे शुद्धि प्राप्त करनेके अनन्तर ही मनुष्य कृतार्थ होता है। ऐसा न करते हुए जो बाहरी स्वच्छताका स्वाँग करता है, वह ढोंगी है। जिस प्रकार किसी सुन्दर नवयुवतीके होठपर थोड़ा-सा भी कोढ़का चिह्न होनेसे कोई भी उसका पाणिग्रहण करनेके लिये तैयार नहीं होता; उसी प्रकार जबतक अन्तरमें विकल्प हैं, वासनाएँ हैं, तबतक बाह्य पवित्रताका कोई महत्त्व नहीं। श्रीएकनाथजीका कहना है कि यदि अन्तःकरणमें पवित्रता है तो बाह्य आचार-विचारोंमें वह अपने-आप प्रकट हो जायगी। और यही अन्तर्बाह्यकी शुचिता आत्मज्ञानको प्रकाशित करेगी।

'मौनम्'—समूहमें वाद-विवाद करनेसे देहाभिमान दृढ़ होता है; किंतु सद्गुरुकी कृपासे जिसका देहाभिमान पूर्णतया नष्ट हो चुका है, उसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिसकी भी निन्दा करें वही तो आत्मस्वरूप है। अतः सद्गुरुकी कृपासे जिसकी समदृष्टि हो गयी है, वह भक्त किसीकी निंदा नहीं करता। इसी प्रकार वह किसीकी स्तुति भी नहीं करता। अतः सद्गुरु-कृपाप्राप्त सद्भक्त स्वतः ही मौन हो जाते हैं। उन्हें ऐसा एक भी स्थान नहीं दीखता जहाँ परमात्माका स्वरूप न हो। अतः गुरु-उपदेशसे जो कृतार्थ हो चुके हैं तथा जिनके चित्तमें आत्मस्वरूप स्थिर हो गया है, वे स्तुति एवं निन्दामें रत नहीं होते। इस प्रकार आत्मज्ञानीके स्वाभाविक मौनका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजी कहते हैं कि राजा राम-

का भजन करना भी महामौन है, क्योंकि वेदोंने भी ईश्वरकी स्तुति की है। अतः परमेश्वरका नामस्मरण महामौन ही होगा।

'संतोषो येन केनचित्'—विज्ञ पुरुष जानते हैं कि भाग्यमें जो लिखा है उससे अधिक रात-दिन श्रम करके भी नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये अपने भाग्यसे जो मिल गया है उसीसे भागवत पुरुष अपना निर्वाह कर लेता है। सद्गुरुसे प्राप्त हुए आत्मज्ञानके कारण वह सदा सन्तुष्ट रहता है। दैव-प्रदत्त सुख-दुःखके आघातोंका अनुभव करते हुए भी आत्म-चिन्तनमें निमग्न रहनेके कारण उसकी आनन्दवृत्ति नष्ट नहीं होती। वह कहता है कि भिक्षावृत्तिसे भी निर्वाह करना पड़े तो भी आपत्ति नहीं; किंतु इस अमूल्य नर-जन्मका एक भी क्षण ऐहिक झंझटोंमें विताना ठीक नहीं।

इसी विषयकी चर्चामें श्रीएकनाथजीने एक मनोरम शब्द-चित्र खींचा है कि सद्गुरु-कृपा होनेके बाद साधककी क्या अवस्था होती है। वे कहते हैं—'सद्गुरु-कृपासे साधकको हृदयस्थ परमात्माके दर्शन होते हैं। साधक अपने भजनमें लग जाता है। उसकी देहके बाह्य चिह्न बदलने लगते हैं। स्वरूपका बोध होनेसे नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें घर्मबिन्दु निकल आते हैं। हृदय-स्पन्दन रुकने लगता है। चित् और चेतनका मिलन होनेके पश्चात् कण्ठ रुँध जाता है। काया पुलकित हो जाती है। उन्मीलित नेत्र तेजोमय हो जाते हैं। आत्मचिन्तन करते हुए ईश्वर-प्रेमकी बाढ़ आती है। रोते-रोते हिचकी बँध जाती है; किंतु उसी रुदनके साथ ही अनुपमेय आनन्दकी उत्पत्ति होती है। साधक रोते-रोते कहता है, 'मोह और अभिमान-के कारण देहात्मबुद्धिसे अबतक मैं अपनेमें ही खोया हुआ था। सद्गुरुकी कृपासे आज मेरा ही मेरे साथ मिलन हुआ। संसारका जो भय आजतक मेरा पिण्ड नहीं छोड़ता था, वह सद्गुरुकी कृपासे आज नष्ट हो गया।' जिस प्रकार छोटा बच्चा अपनी माको देखते ही नाचने-गाने लगता है, उसी प्रकार सद्गुरु-वाक्यरूपी माको देखकर उसके दर्शनसे भक्त हर्षातिरेक-में नाचने-गाने लगता है। उसके मुखपर स्वानन्द-सुखकी आभा झलकने लगती है।

मायासे छूटनेके लिये सद्गुरु-कृपा और उनके द्वारा उपदेश किये हुए भागवत-धर्मोंका आचरण—इन दोनोंकी आवश्यकता-का वर्णन श्रीएकनाथजीने बड़े विस्तारसे किया है। अन्तमें उन्होंने कहा है कि यदि दुर्भाग्यवश सद्गुरु-कृपा आदि बातें न प्राप्त हो सकें तो भगवद्भक्ति मायासे छूटनेका एक निश्चित उपाय है। परमात्मस्वरूप नारायणकी भक्ति करनेसे भगवद्भक्त बिना ही प्रयास मायासे मुक्त हो सकते हैं।

प्रश्न ५—ब्रह्म क्या है?

परब्रह्मका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजी कहते हैं कि जिस प्रकार प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या—इन तीनों अवस्थाओं-में आकाश एकरूप रहता है, उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—इन तीनों अवस्थाओंमें ब्रह्म एकरूप रहता है। ब्रह्म त्रिभुवनमें व्याप्त है और हृदयस्थ आत्मा उसीका रूप है। उसीके बलसे नेत्र देख सकते हैं और रसना रसास्वाद लेती है। सृष्टिका सञ्चालक और हृदयमें स्वानन्दानुभूतिके लिये आधारभूत रहनेवाला नारायण वही है। जैसे आकाश-को बाँधनेके लिये दिशारूप विशाल वस्त्र अपर्याप्त है, वैसे ही ब्रह्मका वर्णन करनेके लिये शब्द अपर्याप्त हैं। वह वाणी-का विषय नहीं है। जहाँ बुद्धिकी भी गति अवरुद्ध हो जाती है, वहाँ रसना, नयन, श्रवण, मन आदि इन्द्रियोंके प्रवेशका क्या कहना है। तरङ्ग समुद्रका ही अङ्ग है; किंतु तरङ्गसे समुद्रकी महानताकी कल्पना नहीं की जा सकती। ईखसे शक्कर बनती है; किंतु शक्करसे ईख नहीं बन सकती। इसी प्रकार ब्रह्मसे ही समस्त इन्द्रियोंकी सृष्टि होती है, तो भी इन्द्रियोंसे परब्रह्मका ज्ञान असम्भव है। इसीलिये कहते हैं कि वही परब्रह्म है जो नेत्रोंको देखनेकी शक्ति देता है; किंतु नेत्र जिसे देख नहीं सकते और जो रसना, श्रवण, नासिका आदि इन्द्रियोंको चेतनाशक्ति देता है; किंतु ये जिसे समझ नहीं सकतीं। ब्रह्म सबको जानता है; किंतु सब उसे नहीं जान सकते। जहाँतक शब्द नहीं पहुँच सकते, जहाँ बुद्धि-का भी प्रवेश नहीं, जहाँ ज्ञेय और ज्ञाताका द्वन्द्व नहीं रह जाता, वही परब्रह्म है। ब्रह्ममें जन्म, वृद्धि, विकास, ह्रास और नाश आदि विकार नहीं हैं। देहका सञ्चालक प्राण है और प्राणका सञ्चालक ब्रह्म है।

ब्रह्मका ऐसा वर्णन करनेके पश्चात् श्रीएकनाथजी कहते हैं कि मनुष्यके मनमें रज-तमयुक्त कर्मोंसे उत्पन्न मल रहता है। उस मलको भक्तिके साधनसे धोकर चित्तको स्वच्छ करना चाहिये। ज्यों-ज्यों अन्तःकरणमें ईश्वरका प्रेम बढ़ता है, त्यों-त्यों विरागका आगमन होता है, विषयासक्ति कम होती है और चित्तवृत्ति निर्मल होने लगती है। चित्तवृत्तिके निर्मल होनेसे सर्वभूतस्थ परमात्मा उसमें प्रकाशमान होता है। जिस प्रकार नेत्ररोग नष्ट होनेके बाद देदीप्यमान सूर्य आप-ही-

आप दीखने लगता है, उसी प्रकार संकल्प-विकल्पके नष्ट हो जानेपर भक्तोंके हृदयमें परमेश्वरके रूपका बोध हो जाता है।

प्रश्न ६—कर्मयोगकी क्या परिभाषा है ?

इसके विषयमें श्रीएकनाथजीने पहले ही कह दिया है कि कर्माकर्मकी विवेचना एक अत्यन्त कठिन समस्या है। कर्माकर्म-विचारकी शास्त्रीय चर्चामें स्मृतिकार मुनि भी चकरा गये हैं। अतः अपने ग्रन्थमें इन विविध कर्मोंके भेदाभेद दिखानेमें श्रीएकनाथजीने विशेष माथापची नहीं की। उनके मतके अनुसार कर्म, अकर्म और विकर्म एक दूसरेसे पृथक् नहीं किये जा सकते। जिस प्रकार कोमल, मधुर और श्वेत नवनीतमें कोमलता, मधुरता और श्वेतता पृथक्-पृथक् नहीं की जा सकती। जहाँ एक है वहाँ दूसरे दो आ ही जाते हैं—उसी प्रकार कर्म, अकर्म, विकर्मकी त्रयीमें जहाँ कर्म है वहाँ अकर्म और विकर्म आ ही जाते हैं। अतः कर्म-अकर्म-विकर्मकी चर्चाको प्रधानता न देते हुए जो कर्म मोक्षप्रद है, उसीका विवेचन श्रीएकनाथजीने आगे चलकर किया है। उनका प्रथम सिद्धान्त है कि निष्काम बुद्धिसे किया हुआ कर्म भव-बन्धनको काटनेका प्रबल साधन है; किंतु सकाम बुद्धिसे किया हुआ वही कर्म बन्धनकारक होता है। वे कहते हैं कि पैरकी बेड़ी तोड़नेके लिये प्राप्त हथौड़ा-छेनी जो बेंच डालेगा, वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। बन्धन काटनेवाले कर्म जो निष्काम बुद्धिसे न करके विषयोंके सुखके लिये करता है, वह बन्धन-मोक्षके साधनको खो बैठता है। अतः मोक्षके लिये निष्काम बुद्धिसे वेदोक्त कर्म करने चाहिये और उन्हें ईश्वरार्पण कर देना चाहिये। ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया हुआ कर्म ब्रह्मरूप है; किंतु फलकी इच्छासे करनेवालोंके लिये वह निष्फल है। हृदयस्थ परमात्मा देहका सञ्चालक है और उसके चिन्तनसे आत्मज्ञान होता है, ऐसा समझ लेनेके बाद भगवद्भक्त देहका अभिमान छोड़ देता है। उसे यह विदित हो जाता है कि सकल भोगोंका भोक्ता परमेश्वर ही है। अतः बुद्धिमान् भक्त जड़, मूढ़, अचेतन देहमें अहंभाव न रखकर समस्त कर्म-फलोंके भोक्ता भगवान्‌को ही सब कर्म अर्पण कर देता है। इस प्रकार देहाभिमानसे रहित तथा ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये हुए जितने भी कर्म हैं, सब बन्धनछेदक होते हैं और उनका अन्तिम परिपाक परम समाधान है। यही कर्मयोग है।

प्रश्न ७—परमेश्वरके अवतार-चरित्र कितने हैं ?

इस प्रश्नकी चर्चा करते हुए श्रीएकनाथजीने मूल संस्कृतका प्रायः अनुवाद ही किया है। कई स्थलोंपर विस्तार भी किया है। उसमें विराट्पुरुषसे लेकर बुद्ध, कल्कि अवतारोंतकके परमेश्वरके अनेक अवतार-चरित्रोंका वर्णन है।

प्रश्न ८—अभक्तोंकी गति कौन-सी है ?

अभक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीएकनाथजीने ज्ञानाभिमान, धनाभिमान, विषयलोलुपता और साधुनिन्दा—इन दुर्गुणोंका मुख्यतया उल्लेख किया है। ज्ञानाभिमानी अभक्तोंकी उन्होंने कड़े शब्दोंमें भर्त्सना की है। उनका कहना है कि जो ज्ञानाभिमानसे उन्मत्त हैं, वे हरि-भजनसे सदा विमुख रहते हैं। बकरी ईखकी मिठास नहीं जानती, अतः वह ईखकी पत्तियाँ ही चबाती है। उसी प्रकार आत्मज्ञानकी माधुरीका ज्ञान न होनेसे ज्ञानाभिमानी अभक्त अध्यात्मकी शाब्दिक चर्चामें ही सुख मानता है। ज्ञानके अभिमानसे जो वास्तविक हरि-भक्तिसे विमुख हैं, वे झूठी हरि-भक्ति करनेवाले अभक्त कुत्तेसे भी नीच हैं। इस प्रकारके ज्ञानियोंसे तो निष्कपट हृदयसे हरि-चरणोंकी शरण जानेवाले श्रद्धालु अज्ञानी ही अच्छे हैं। अबोध बालक पिताके सिरपर चढ़ता है तो भी उसे बुरा नहीं लगता; किंतु जब सयाना लड़का तनिक भी अपमान कर देता है तो पिताको क्रोध आ जाता है। बस, यही गति ज्ञानियोंकी है। ज्ञानाभिमानके कारण वे ईश्वरकी शरण न जाकर अपनी कर्मठताका अवलम्ब ग्रहण करते हैं। न तो वे स्वयं कर्मका विधान जानते हैं और न दूसरोंकी कुछ सुनते हैं। फलतः कर्मप्रमादके कारण वे पापके स्वामी बन जाते हैं। वे सभी कर्म काम्य-बुद्धिसे करते हैं और लौकिक सुखोपभोग ही उनका एकमात्र लक्ष्य रहता है। इतना ही नहीं, वे अपने ज्ञान-बलसे भोगमय जीवनका समर्थन एवं उसको उचित प्रमाणित करते हैं। वे कहते हैं—“मानव-जन्म स्त्री आदि भोगोंका अनुभव करनेके लिये ही है। जो महामूर्ख हैं वे ही सद्यःसुखकारी स्त्री-भोगको छोड़कर वैराग्यके पीछे पड़ते हैं। स्त्री-गृह आदिका त्याग करके जो अरण्यवास स्वीकार करते हैं वे अपने ही कर्मोंका प्रायश्चित्त कर रहे हैं, ऐसा समझना चाहिये। क्या गृहस्थाश्रममें ईश्वर नहीं है ? तब ये लोग वनमें जाकर क्यों रहते हैं ? यदि ईश्वर वनमें ही मिलता तो मृग आदि वनचर मोक्षके अधिकारी क्यों न होते ? आसन, ध्यान, धारणा आदि साधनोंसे ही यदि ईश्वर मिलते तो बक पक्षीको मोक्ष क्यों न प्राप्त होता ? यदि एकान्तवाससे मोक्ष मिलता होता, तो चूहे कभीके मुक्त हो गये होते। परमेश्वर सर्वज्ञ है। सब प्राणियोंमें स्त्री-पुरुषका जोड़ा उसीका बनाया हुआ है। उस

परमेश्वरको मूर्ख समझकर नासमझ लोग त्यागको महत्त्व देते हैं। 'उपस्थ आनन्दका एक आयतन है,' यह वेद-वाक्य है। इसे मिथ्या मानकर लोग संन्यासी हो जाते हैं। मैथुनमें परम सुख है और वह ईश्वरनिर्मित है। उसका त्याग करनेमें क्या लाभ ? स्त्रीका त्याग करके जो संन्यासी बन जाते हैं उन्हें स्त्री-शाप भोगना पड़ता है। उसी शापके कारण हाथमें दण्ड लेकर तथा गेरुए वस्त्र पहनकर उन्हें भीख माँगनी पड़ती है और दाने-दानेके लिये दूसरेका मुँह ताकना पड़ता है। उनकी ऐसी दुर्दशा स्त्री-शापके कारण ही होती है। संसारमें स्त्री-सुखके समान दूसरा कोई सुख नहीं तथा स्त्री-त्यागके समान दूसरी कोई मूर्खता नहीं है। इस परमतत्त्वको न समझकर मूर्खलोग वैराग्यके नामपर संन्यास ग्रहण करते हैं और अपनी दुर्दशा कराते हैं। एक स्त्री-संगको छोड़कर शेष सभी सुख रुचिहीन हैं। अतः जिनके भाग्यमें सुख लिखा है वे ही सुन्दरियोंके साथ विविध भोग भोगकर परमशान्ति प्राप्त करते हैं। समस्त इच्छित भोगोंका भोगना ही ईश्वरकी कृपाका लक्षण है और उनसे वञ्चित रहना ही ईश्वर-कोपका प्रमाण है। सद्यःसुखकारी स्त्री आदि भोगोंको त्यागकर अदृष्ट मोक्षके पीछे दौड़ना कहाँकी बुद्धिमानी है ?"

जीवनके ऐसे तत्त्वज्ञानसे वे स्त्रीको परम दिव्य मानते हैं। जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न तीनों अवस्थाओंमें वे स्त्रीका ही ध्यान करते हैं। न तो विषयोंका घातक स्वरूप उनके ध्यानमें आता है और न वे ज्ञानाभिमानके कारण दूसरेसे अपनी त्रुटि समझनेकी चेष्टा करते हैं। इस प्रकारके विकृत ज्ञानके साथ यदि संपत्ति भी हो तो फिर क्या पूछना। अपने सारे धनका उपयोग वे विषयोपभोगमें ही करते हैं। वास्तवमें धनका उपयोग धर्मके लिये करना चाहिये; क्योंकि जहाँ धर्म है, वहीं शुद्ध ज्ञान है। जहाँ शुद्ध ज्ञान है, वहाँ विज्ञान है। जहाँ विज्ञान है, वहाँ परम शान्ति है। ऐसे सामर्थ्य रखनेवाले धनका उपयोग धनाभिमानी मूर्ख क्षणभङ्गुर और चञ्चल विषयोंके लिये करते हैं; क्योंकि वे विषयभोगको ही अपने जीवनका परम कर्तव्य मानते हैं। विषयोंमें लिप्त रहनेसे उन्हें सुबुद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। मैथुन, मांस, मदिरा—ये तीन प्रमुख विषय-सुख हैं। इन्हींमें वे रत रहते हैं। जिस प्रकार दूध देखकर बिल्ली ब्राह्मण या चाण्डालके घरका विचार नहीं करती, उसी प्रकार विषयोंको देखकर वे मूढ़ कर्तव्याकर्तव्य अथवा धर्माधर्मका विचार नहीं करते। इस प्रकारके काम्यकर्म करनेवाले विषयलोलुप अभक्त अपना ही अहित करते हैं। विषय-भोगोंका साधन यह देह ही उनके लिये परमेश्वर बन जाता है। उनके सब व्यापार देह-सुखके लिये ही होते हैं। सद्गुरुकी शरण जाना उन्हें नहीं सूझता। गुरुजनोंकी पूजा वे कभी नहीं करते। अतिथिको भोजन नहीं देते। स्त्री-सुखको ही अपने जीवनका सार मानते हैं।

रुईमें आग लगनेपर जैसे उसका बुझाना कठिन है वैसे ही विषयलिप्त मनको विषयोंसे हटाना कठिन है। जीवन-सम्बन्धी विकृत तत्त्वज्ञानके कारण ईश्वर-भक्तोंके प्रति वे घृणाकी भावना रखते हैं। महान्-से-महान् विभूतियोंकी वे क्षणमें हँसी उड़ा देते हैं। वे कहते हैं—'जिसे योगियोंका मुकुटमणि कहते हैं, उस शिवको पूज्य मानना ठीक नहीं; क्योंकि उसने क्रोधमें आकर दक्षयज्ञमें याज्ञिकोंका शिरश्छेदन किया और मोहिनीके हावभावने सौन्दर्यपर वह पागल हो गया। स्वयं विष्णुने पतिव्रता वृन्दाको व्यभिचारिणी बनाया। सनत्कुमारोंको साधु कहा जाय तो उन्होंने भी जय-विजयको शाप दिया। नारदको श्रेष्ठ मानें तो उसने भी भगवान्‌के पास स्त्रीकी याचना की। जिसे धर्मराज कहते हैं, वह भी एक बार झूठ बोला। व्यास तो जारपुत्र था ही। वसिष्ठ और विश्वामित्र सदा परस्पर झगड़ते रहे। प्रह्लाद भगवद्भक्त होते हुए भी पितृद्रोही था।' इस प्रकार जिन-जिन महापुरुषोंका पुराणोंने आदरपूर्वक वर्णन किया है, उन-उन महापुरुषोंकी ये अभक्त निन्दा करते हैं।

श्रीएकनाथजीका कहना है कि इस प्रकारके विषयी, घमंडी और ईश्वरविमुख अभक्त आत्मघाती हैं। वे जिस शाखापर बैठे हैं, उसीको काटना चाहते हैं। विषययुक्त काम्य-कर्मोंके बन्धनसे वे जकड़े जाते हैं और परमात्मबुद्धिसे वञ्चित रहते हैं। उनकी इस तमोमय अवस्थाको देखकर सुषुप्तिको भी नींद आती है, आलस्य भी अँगड़ाई लेने लगता है और अन्धकारको भी भय लगता है। निन्दा, क्रोध और अशान्ति उनके हृदयमें अपना डेरा जमा लेते हैं। ऐसे अभक्तोंके भाग्यमें अधःपतन ही लिखा है। जिस प्रकार खड्डेमें गिरकर जल पत्थर ऊपर नहीं उठ सकता, उसी प्रकार ये अभक्त भी पतित अवस्थासे ऊपर नहीं उठ सकते।

प्रश्न ९—किस युगमें किस नाम-रूप-वर्ण-आकारके ईश्वरका किस प्रकार पूजन करना चाहिये ?

चारों युगोंमें, परमेश्वरके स्वरूप, वर्ण, गुण, पूजाविधि आदिका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजीने अधिकतः मूल

संस्कृतका ही अनुवाद किया है; किंतु इस प्रश्नके उत्तरके अन्तमें उन्होंने कलियुगकी पूजा-विधिका विवेचन विस्तारके साथ किया है। वे कहते हैं—'भगवान्‌को संकीर्तन परम प्रिय है। जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेको नहीं भूलती, उसी प्रकार भगवान् भी हरि-कीर्तन करनेवालेको नहीं भूलते। श्रीरामचन्द्रजीका नाम लेनेसे पापोंका पर्वत चकनाचूर हो जाता है और भक्त परमानन्दमय अध्यात्मज्ञानको ग्रहण करने योग्य हो जाता है। अत्यन्त प्रेमके साथ हरिभजन करनेसे हृदयमें परमेश्वरके स्वरूपका उदय हो जाता है। अतः नाम-स्मरण मोक्षके लिये अत्यन्त प्रभावशाली साधन है। कलियुगमें राम-कृष्ण आदि नामोंकी ध्वनि करनेवाला मोक्षका अधिकारी हो जाता है।' श्रीएकनाथजीका कहना है कि कलियुगमें नाम-स्मरणमात्रसे मुक्ति मिल सकती है। इसीलिये देवता भी कलियुगमें जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं। जिस प्रकार गङ्गा-स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है, उसी प्रकार हरिनाम-स्मरणके द्वारा भगवान्‌की शरण जानेसे भक्त तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाता है। देहका अभिमान छोड़कर जो हरिकी शरणमें जाते हैं, उन्हें कर्माकर्मका दोष बाधक नहीं होता। उन्हें ईश्वरकी कृपा प्राप्त हो जाती है। जैसे सूर्यके प्रकट होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी-का प्रेम प्रकट होनेसे कर्माकर्मरूपी द्वन्द्व विनष्ट हो जाते हैं। कलियुगमें नाम-स्मरणके सहारे भक्त चारों प्रकारकी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। संकीर्तन सुननेके लालायित श्रीहरि वैकुण्ठको भी भूल जाते हैं और भक्तमें ही रत हो जाते हैं। जहाँ भगवान्, वहीं वैकुण्ठ। इस प्रकार भक्तको सालोक्य मुक्ति मिलती है। नाम-कीर्तनकी ध्वनि सुनकर भक्तोंके साथ नाचनेके लिये भगवान् दौड़े आते हैं, इस प्रकार भक्तको सामीप्य मुक्ति मिलती है। चतुर्भुज मूर्तिका ध्यान करते हुए भक्तको सारूप्य मुक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तिकी चरम सीमा यह है कि इस चराचर विश्वमें भीतर-बाहर सर्वत्र परमेश्वरके स्वरूपका साक्षात्कार भक्तको हो जाता है। उन्हें परमेश्वरके अतिरिक्त देखनेके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं। चित्तवृत्ति स्वानन्दमें निमग्न हो जाती है और फिर द्वैतमय जगत्‌में नहीं लौटती। इस प्रकार भक्तोंको सायुज्य मुक्ति मिलती है। श्रीएकनाथजीने कलियुगके नाम-माहात्म्यका इस प्रकार वर्णन किया है।

जनक-नौ ऋषियोंका संवाद यहाँ समाप्त होता है। वसुदेवजी नारदजीकी विदाईके लिये प्रस्तुत होते हैं। जानेके पूर्व नारदजी वसुदेवजीको उपदेश करते हैं कि श्रीकृष्णको पुत्रदृष्टिसे न देखना। वे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। सच-मुच ही तुम बड़े भाग्यशाली हो, क्योंकि वेद भी जिसका वर्णन नहीं कर सकते, जो योगी-मुनियोंके भी ध्यानमें नहीं आता, उसे तुम अपनी गोदमें खेलाते हो एवं अतिशय प्रेममें उनका आलिङ्गन करते हो। निश्चय ही इससे तुम्हारी देह-बुद्धि नष्ट हो जायगी। जो अनन्त कालकी तपस्यासे भी नहीं हो सकता, वह तुम्हें सहज ही प्राप्त हुआ है। अतः श्रीकृष्णके सच्चे स्वरूपको जानकर उनके चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पण करो' जिससे आप-ही-आप तुम मुक्त हो जाओगे। इतने वृत्तान्तके वर्णनके पश्चात् एकादश स्कन्धके प्रथम पाँच अध्याय समाप्त होते हैं।

कई अन्य आधुनिक शास्त्रोंकी भाँति 'अध्यात्म' भी एक शास्त्र है। इसे यहाँ प्रमाणित करनेका अवसर नहीं है। यह एक स्वतन्त्र विषय हो सकता है; किंतु जिस प्रकार आधुनिक शास्त्रोंकी उन्नतिके उद्देश्यसे कई शास्त्रज्ञ अपना जीवन बिताते हैं और खोज करते हैं, इसी प्रकार करोड़ों शास्त्रज्ञ अध्यात्म-शास्त्रकी उन्नतिमें अपना जीवन, अपना सुख, अपना सर्वस्व दान कर चुके हैं। इन्हीं शास्त्रज्ञोंने अध्यात्मशास्त्रका विकास किया है। इन शास्त्रज्ञोंमें सबसे आधुनिक संशोधनविशारद (Research Scholars) हैं हमारे 'संत'। उन्होंने आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये एक विशेष मार्ग खोज निकाला, उसपर आचरण किया और लोगोंको भी उसका उपदेश किया। अतः मराठी संत-साहित्यके ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, नामदेव आदि संतोंके विचारोंमें एक प्रकारकी एकताका दर्शन होता है। वे मानते हैं कि सुख-दुःख, जन्म-मरण, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वोंसे मानव बद्ध रहता है और निर्विषय सुखकी तनिक भी कल्पना वह नहीं कर सकता। यदि वह अपनी इस अधोऽवस्थासे ऊपर उठना चाहता है और यदि मूल परब्रह्मस्वरूप प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा है तो उसे किसी आध्यात्मिक मार्गका अनुसरण करना चाहिये। ये मार्ग अनेक प्रकारके हैं। और उनमें परिवर्तन भी होता चला आया है। हमारे संतोंकी दृष्टिसे सबसे सरल मार्ग है—'नामप्रधान भक्तिमार्ग।' श्रीएकनाथजी कहते हैं कि मोक्षके लिये केवल हरिनाम ही पर्याप्त है। नामसे ही चारों प्रकारकी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। नाम-संकीर्तनसे परमेश्वर भक्तोंके प्रेम-पाशमें बँध जाता है। संत-साहित्यके तत्त्वज्ञानकी सबसे महत्त्वपूर्ण बात है 'नाम-माहात्म्य।' संत-

तत्त्वज्ञानमें विरक्ति और सद्गुरुका भी उच्च स्थान है; क्योंकि विरक्तिसे मनुष्य अध्यात्म-पथपर अग्रसर होता है और आत्म-ज्ञानकी अनुभूति सद्गुरु-कृपासे प्राप्त होती है। तीसरी बात है भक्तिकी। 'अनन्यभावसे ईश्वरकी शरण जाना' इसको हमारे संत परमार्थ-प्राप्तिका सबसे प्रभावपूर्ण साधन मानते हैं। इस प्रकार विषय-विरक्ति, सद्गुरु-कृपा और नामप्रधान ईश्वर-भक्ति—ये तीनों संतोंके परमार्थ-पथको प्रकाशित करनेवाले देदीप्यमान दीपक हैं। इस दृष्टिसे यह कहना उचित ही होगा कि श्रीएकनाथजीकी प्रथम पञ्चाध्यायीकी यह टीका हमारे संत-तत्त्वज्ञानका एक 'प्रातिनिधिक दर्शन' है।

वैदिक-साहित्यका परिचय

ऋग्वेद-संहिता

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्कसे आगे]

अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंमें ऋक्, यजुः और सामवेदोंका नाम 'त्रयी' है। इसलिये कि, तीन (अग्नि, वायु और सूर्य) ईश्वरीय शक्तियोंमेंसे अग्निका ऋग्वेदमें, वायुका यजुर्वेदमें और सूर्यका सामवेदमें विशेष कथन है।

महाभारत (१ । २), श्रीमद्भागवत (१२ । ६) और विष्णुपुराण आदिसे पता चलता है कि, 'ब्रह्माकी आज्ञासे वेद-व्यासने वैदिक संहिताओंको कई खण्डोंमें विभक्त किया—विविध-विषयक मन्त्रोंको पृथक्-पृथक् करके प्रत्येक विषयको क्रमबद्ध किया। ये पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास थे और वेदोंका बँटवारा करनेके कारण ही इन कृष्णद्वैपायनका नाम व्यास पड़ा—

वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इतीरितः।
तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः॥
(महाभारत १ । २)

व्यासजीने पैलको ऋग्वेद, वैशम्पायनको यजुर्वेद, जैमिनि-को सामवेद और सुमनाको अथर्ववेद पढ़ाया। पैल ऋषिने ऋग्वेदके दो भाग करके उन्हें इन्द्रप्रमति और वाष्कलको पढ़ाया। इन्द्रप्रमतिने अपना भाग अपने पुत्र माण्डुकेयको पढ़ाया। माण्डुकेयके बाद उनके पुत्र शाकल, शिष्यदेव और सौभरिने वेदाध्ययन किया। शाकल्ने अपने अधीत अंशका अध्ययन मुद्गल, गालव, शालीय और शिशिर आदिको कराया। इन्द्रप्रमतिके शिष्य शाकपूणि थे। इन्होंने वेदका जो भाग पढ़ा था, उसके तीन भाग करके उन्हें अपने शिष्य क्रौञ्च, वैताल और बलाकको पढ़ाया। शाकपूणिने अपने 'निरुक्तकृत्' नामक शिष्यको निरुक्त बनाकर दिया। वाष्कलने अपनी संहिताके तीन भाग करके उन्हें कालायनि, गार्ग्य और कथाजवको पढ़ाया। इस तरह ऋग्वेदकी कितनी ही शाखाएँ हो गयीं; परंतु पाँचकी ही प्रधानता मानी गयी है—शाकला, वाष्कला, माण्डुका, शांखायनी और आश्वलायनी। इनमें अब पहली ही पायी जाती है, यह लिखा जा चुका है।

उव्वटने इन तेरह प्रकारके मन्त्रोंका उल्लेख किया है—विधिवाद, अर्थवाद, याच्ञा, आशीः, स्तुति, प्रैष, प्रवहलिका, प्रश्न, व्याकरण, तर्क, पूर्वानुकीर्त्तन, अवधारण और उपनिषद्। ये सब पाये जाते हैं।

यास्कने ऋकोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है—प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक। शाकल्ने पद-पाठकी और गालव या बाभ्रव्यने क्रमपाठकी रचना की।

ऋग्वेदके पद्योंके शब्दोंमें जो स्वर मिलते हैं, उनके नाम उदात्त, अनुदात्त और स्वरित हैं। पाणिनिने जैसे बहुत कुछ वैदिक व्याकरण लिखा है, वैसे ही वैदिक भाषाके उच्चारणों और स्वरोंके बारेमें भी लिखा है; परंतु पाणिनिके सब प्रयोग अब लागू नहीं होते। स्वरोंकी सर्वाधिक झलक शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणोंमें दीख पड़ती है। वैदिक पद्य-पाठ तो इनमें ओतप्रोत हैं। द्रविड़ भाषामें आज भी स्वरोच्चारणोंकी झलक देखी जाती है। स्वरोंके साथ वेद-पाठकी विधि है। स्वरोंके कारण अर्थ-भेद भी होता है।

पाठ-प्रणालीके भेदसे संहिता दो तरहसे पढ़ी जाती है। पहलीको निर्भुज-संहिता और दूसरीको प्रतृण-संहिता कहते हैं। मूलके अविकल पाठको निर्भुज कहते हैं। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्र 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्' को ज्यों-का-

त्यों पढ़ा जाय, तो निर्भुज कहलायगा। जहाँ मूलको विकृत-रूपसे पढ़ा जाय, वहाँ प्रतृण कहा जाता है। प्रतृणके पद-संहिता, क्रम-संहिता आदि बहुत भेद हैं। पद-पाठमें पदच्छेद करके पढ़ा जाता है—

'अग्निम्, ईळे, पुरः, हितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्।'

क्रम-पाठ इस तरह पढ़ा जायगा—

'अग्निं ईळे ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्, देवं ऋत्विज।'

जटापाठ इससे विचित्र है—

'अग्निं ईळे, ईळे अग्निम्, अग्निं ईळे, ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं ईळे, ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्, देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्, देवं ऋत्विजम्, ऋत्विजं देवम्, देवं ऋत्विजम्।'

घनपाठ तो और भी विचित्र है—

'अग्निं ईळे ईळे, अग्निं अग्निं ईळे, पुरोहितं पुरोहितं ईळे, अग्निं अग्निं ईळे, पुरोहितं ईळे पुरोहितम्, पुरोहितं ईळे ईळे, पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य, पुरोहितं ईळे ईळे, पुरोहितं यज्ञस्य पुरोहितम्, यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य देवम्, देवं यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य देवम्, यज्ञस्य देवं देवम्, यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्, ऋत्विजं ऋत्विजं देवम्, यज्ञस्य यज्ञस्य देवम्, ऋत्विजम्।' इत्यादि।

ये शब्द बार-बार इसलिये भी दोहराये जाते हैं कि वेदका मूल पाठ सदा शुद्ध रहे, कहीं भी कोई प्रक्षिप्त न घुसेड़ने पावे। ये पाठ-क्रम और भी कई प्रकारके हैं—माला, शिखा, लेखा, ध्वजा, दण्ड, रथ, अग्नि आदि। विस्तार-भयसे अन्य पाठ नहीं दिये जा रहे हैं। इन पाठोंको देखकर अपने पूर्वजोंकी असाधारण प्रतिभा, दुर्द्धर्ष परिश्रम और अदम्य धैर्यपर विस्मित और विमुग्ध होना पड़ता है। 'छापाखाना' तो अभी उस दिन चला है—हजारों हजार वर्षोंसे ब्राह्मण-जाति इन पाठों, वेदोंके विशाल साहित्य और शास्त्रोंके विराट वाङ्मयको केवल कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखती आ रही है। वाह री अद्भुत प्रतिभा और वाह री ऋतम्भरा प्रज्ञा !!! क्या इन ब्राह्मणोंसे संसार, विशेषतः हिंदू-जाति कभी 'उऋण' हो सकती है ! ब्राह्मण नहीं रहते, तो क्या अगाध संस्कृत-साहित्य, हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और आर्य-सभ्यताका नाम भी दुनिया सुनती ! इस महत्कार्यके लिये ब्राह्मणोंने भारतवर्षका राज्य छोड़ दिया, लक्ष्मीको 'लात' मार दिया, स्वेच्छया दरिद्रताका वरण किया और सरस्वतीकी अनन्य उपासना की। यदि व्यास, वसिष्ठ, परशुराम, द्रोण, चाणक्य और समर्थ रामदासको सोलह आनेमें एक पैसा भी कामना रहती, तो आजतक भारतपर केवल ब्राह्मणोंका राज्य रहता, दूसरे किसीका भी नहीं; परंतु—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
स तु कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

'ब्राह्मणका यह शरीर छोटे-मोटे कामके लिये नहीं है; यह तो जीवनमें घनघोर तपके लिये और शरीरपात होनेपर सच्चिदानन्दकी प्राप्तिके लिये है।'

वेदका प्रतिपाद्य यज्ञ है। यज्ञके प्रधान प्रसारक सनातन-धर्मी हैं। सायणका तो नाम ही 'याज्ञिक भाष्यकार' पश्चिमी वेद-विद्यार्थी रक्खे हुए हैं; परंतु यज्ञके सम्बन्धमें लोगोंमें काफी भ्रम भी फैला हुआ है। यज्ञका वाच्यार्थ पूजन, हवन, याग आदि है। भगवान्‌ने यज्ञकी महिमा गीतामें गायी है—

'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।'

'यज्ञ, दान, तप और कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये—इनको करना ही चाहिये।'

'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'

'यज्ञसे बचे हुए अमृतका उपभोग करनेवाले शाश्वत ब्रह्मको पाते हैं।'

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।'

'केवल यज्ञहीके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं।' ऐसे-ऐसे अनेक वचनोंसे भगवान्‌ने यज्ञका विराट् रूप बताया है। इसके सिवा गीतामें ब्रह्मयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ आदि लाक्षणिक यज्ञोंका भी वर्णन किया गया है। गीताके तीसरे अध्याय (१०।१३) में भगवान्‌ने यह भी कहा है कि ब्रह्माने यज्ञ और प्रजाको एक साथ उत्पन्न करके प्रजासे कहा कि 'यज्ञ इच्छित फलदाता है। इससे तुम देवोंको सन्तुष्ट करो और देवता तुम्हें तुष्ट करें। यज्ञतुष्ट होकर देवता तुम्हें इच्छित फल देंगे।' इस तरह गीतामें यज्ञका व्यापक अर्थ है। भगवान्‌ने तीन तरहके यज्ञोंका उल्लेख १७वें अध्यायमें किया है। ये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। व्यक्तिगत फलाशा त्यागकर किया जानेवाला यज्ञ सात्त्विक वा निष्काम, फलाकाङ्क्षावाला यज्ञ राजस वा सकाम और शास्त्र-श्रद्धा-मन्त्रहीन यज्ञ तामस वा अधम है।

वैदिक-साहित्यमें तामस यज्ञका पता तो नहीं चलता।

परंतु सकाम और निष्काम यज्ञोंका तथा लाक्षणिक यज्ञोंका प्रयोग बहुत पाया जाता है। तरह-तरहके यज्ञ अपने लिये फलाभिलाषा लेकर भी किये जाते थे और फलत्याग करके, समाज, देश और संसारके कल्याणके लिये भी सैकड़ों यज्ञ किये जाते थे। निष्काम यज्ञको नियामकतत्त्व माना जाता था। यज्ञको विष्णुका रूप बताया गया है—'विष्णुर्वै यज्ञः।' विष्णुके नाम ही हैं यज्ञपुरुष और यज्ञेश्वर। जो यज्ञकी दार्शनिक व्याख्या और यज्ञरहस्यकी विशद और यथार्थ मीमांसा देखना चाहें वे वैदिक वाङ्मयके आरण्यकग्रन्थोंको पढ़ देखें। अनेकानेक ऋषियोंके मतसे तो यज्ञका अर्थ ही है 'परोपकार।'

यों तो ऋग्वेदके प्रायः सभी सूक्तोंमें शौर्य-वीर्यकी बातें हैं—प्रायः प्रत्येक सूक्त वीर-गान है; परंतु ऋग्वेदका सबसे बड़ा युद्ध 'दासराज्ञ-युद्ध' है। यह भी महाभारतकी ही तरह आपसमें ही हुआ था। इसका उल्लेख ऋग्वेदके ७।१८, १९ और ३३ सूक्तों तथा ७।८३।७ में है। इसमें दस प्रधान योद्धा थे। सूर्यवंशी राजा सुदासकी ओर इन्द्रकी सहायता थी। उन्होंने शत्रुओंके (यज्ञविरोधी आर्योंके) ९९ नगरोंको ध्वस्त-विध्वस्त कर डाला था (१।५४।६)। इसमें पक्थ, भलान, भनन्तालिन, विषाणिन आदि अनार्य राजा भी सम्मिलित थे। इसमें ६६०६६ मनुष्य काम आये थे (७।१८।१४)।

पाश्चात्य वेदाभ्यासियोंने ऋग्वेदका काल-निरूपण करनेमें जितनी माथापच्ची की है उतनी ऋग्वेदके किसी भी विषयपर नहीं। अधिक यूरोपीय विद्वानोंके मतसे १२ ईसापूर्व, हाग और आर्कविशप प्राटके मतसे २००० ईसापूर्व, लो० तिलकके मतसे ४५०० ईसापूर्व, वैद्यजीके मतसे ३१ ईसापूर्व, जैकोबीके मतसे ४००० ईसापूर्व, पावगीके मतसे ८००० ईसापूर्व और अविनाशचन्द्रदासके मतसे २५००० ईसापूर्वमें ऋग्वेद बना था। श्रीनारायणराव भवानराव पावगीका कहना है कि, 'अलेक्ज़ेंडरके समय ग्रीक विद्वानोंने जो अनेक देशोंकी वंशावलियोंका संग्रह किया था उसके अनुसार चन्द्रगुप्ततक भारतवर्षमें १५४ राजवंश ६४५७ वर्ष राज्य कर चुके थे। इनके बहुत पहले ऋग्वेद बन चुका था। इस तरह ८००० ईसापूर्वमें ऋग्वेदकी सृष्टि हुई।' परंतु ऋग्वेद (१०।१३६।५ और १०।८७।२) में जिन चार समुद्रोंका वर्णन है, उनकी परिस्थितिपर विचार करनेसे तो और ही बात मालूम पड़ती है। भूगर्भवेत्ताओंके मतसे उन चारों समुद्रोंके लुप्त हुए कम-से-कम पचीस हजार और अधिक-से-अधिक पचहत्तर हजार वर्ष ; यही मालूम होता है कि ऋग्वेदको बने कम-से-कम २५००० और अधिक-से-अधिक ७५००० वर्ष हुए।

इसके सिवा एक बात और। ऋग्वेद (७।९५।२ और ३।३३।२) में लिखा है कि, 'सरस्वती नदी समुद्रमें गिरती थीं।' भूगर्भशास्त्रियोंके मतसे यह समुद्र 'राजपूताना समुद्र' था। यह समुद्र लुप्त हो गया और साथ ही सरस्वती भी लुप्त हो गयी। यह बात प्लीस्टोसिन-कालकी है। भूगर्भवालोंका ऐसा मत है। एच० जी० वेल्सकी लिखी 'दी आउटलाइन आफ हिस्ट्री' के अनुसार प्लीस्टोसिन-कालका समय ईसासे २५००० वर्षसे लेकर २५००० वर्ष पूर्व निर्धारित किया गया है। फलतः ऋग्वेदके निर्माणका समय २५००० वर्ष है। यह आधुनिक कालनिर्णय है, जिनकी शास्त्रोंपर श्रद्धा है और जो शास्त्रानुसार वेदोंको नित्य मानते हैं, उनके लिये तो निर्माण-कालका कोई झगड़ा ही नहीं है।

यद्यपि हवन-यज्ञ-कार्योंके लिये स्तुतिबहुल मन्त्र-समुदायका संकलन ऋग्वेदमें किया गया है, तथापि आर्योंके धर्म, समाज, इतिहास, संस्कृति, सभ्यता आदिके सम्बन्धके भी हजारों मन्त्र हैं। इनसे अनेकानेक मूल्यवान् विषय ज्ञात होते हैं।

कहा गया है—सोमलता पर्वतपर मिलती थी (१०।३१।१)। सोमकी रखवाली गन्धर्व करते थे (९।८३।४)। सोम पीकर आर्य अपनेको अमर बनाते थे (८।४८।३)। सोम एक पौधा था; परंतु आध्यात्मिक भाषामें सोम ब्रह्मद्रव था। इसे भी पीकर आर्य मुक्त होते थे।

रथको ढाकने (६।४७।२६) और घोड़ेकी लगाम आदि बनानेके काममें आर्य लोग चमड़ेको लाते थे (१०।१०२।२)। वे ऊनका कपड़ा बनाते थे (१०।२६।६)। स्त्रियाँ कपड़े बुनती थीं (२।३।६)। जुलाहे (तन्तुवाय) भी बुनते थे (१०।१०६।१)। वस्त्रदान किया जाता था (१०।१०७।२)। वे हाथोंमें कड़ा पहनते थे (५।५८।२)। सोनेकी माला पहनते थे (५।५३।४)। सोनारको निष्कं-कृण्वान् कहते थे (८।४७।१५)। सौ दरवाजोंका भी मकान बनाते थे (७।८८।५)। कारागारमें शत्रु रखे जाते थे (१।११६।८)। लोहे और सोनेका भी घर होता था (७।३।७; ७।१५।१४)। दरवाजेपर दरवान रहता था (२।१५।९)। पायेदार दोतल्ला मकान होता था (५।६२।६)।

पिंजड़ेमें बाघ रक्खे जाते थे (१० । २८ । १०) । घुड़दौड़में बाजी जीतकर अश्विनीकुमारोंने सूर्याको पाया था (१ । ११६ । १७) । रथमें घोड़ोंके सिवा कभी-कभी गर्दभ (गधा) भी जोता जाता था (१ । ११६ । २) । रथ सुवर्ण और काठके होते थे (३ । ६१ । २; १० । ८५ । २) । भृगुवंशीय रथ-निर्माणमें निपुण थे (१० । ३९ । ४) । घोड़े स्वर्णालङ्कारोंसे सजाये जाते थे (४ । २ । ८) । आर्य तलवार और भालेसे लड़ते थे । धनुर्बाण प्रधान हथियार थे । कवच पहनते थे । लोहे और सोनेका टोप पहनते थे । दस्ताना भी पहनते थे । बाण तरकसमें रक्खे जाते थे । (देखिये छठे मण्डलका ७५ सूक्त पूरा और ८ । ९६ । ३ मन्त्र) । छुरी और तलवार भी चलाते थे (५ । ५७ । २) । लौहा-स्त्रपर 'शान' चढ़ाते थे- (६ । ३ । ५) । ऋषियोंके पास गौ, घोड़े, सुवर्ण, जौ और बाल-बच्चे होते थे (९ । ६९ । ८); इसलिये वे भी युद्ध करते थे (६ । २० । १) । साधारणतः लोग सौ वर्ष जीते थे (१० । ८५ । ८) । वसिष्ठके पुत्र दाहिनी तरफ बाल सजाते थे (७ । ३३ । १) । क्षौर-कर्म नापित (नाई) करता था (१० । १४२ । ४) ।

पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक और पाप-पुण्यपर आर्योंका पूर्ण विश्वास था (१० । १७७ । ३) । अश्वमेध-यज्ञसे स्वर्ग मिलता था (१० । १६७ । १) । अश्व देनेवाला सूर्यलोक जाता था । स्वर्णदानी अमर होता था और वस्त्रदानी दीर्घायु प्राप्त करता था (१० । १०७ । २) । 'त्र्यम्बकं यजामहे' (मृत्युञ्जयजप) करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती थी (७ । ५९ । १२) । मूर्खकी निन्दा की गयी है और पढ़नेपर बड़ा जोर दिया गया है (१० । ७१ भाषासूक्त) । भुने जौ, सत्तू और आटेका उपयोग किया जाता था (३ । ५२ । १) । भड़भूजेकी दूकानें थीं (९ । ११२ । ३) ।

आर्योंको ज्योतिषका पूर्ण ज्ञान था । सूर्यका रथ ५०५९ योजन चलता था । रथकी गति एक दण्डमें ७९ योजन मानी गयी है । उषा सूर्यसे आधा दण्ड पहले आती थी (१ । १२३ । ८) । वे बारह राशियाँ और ५ ऋतु मानते थे । हेमन्त और शिशिरको एक ही ऋतु मानते थे (१ । १६४ । ११-१३) । वे मलमास वा मलिम्लुच भी मानते थे (१ । २५ । ८) । सूर्य-ग्रहणकी रीति जानते थे (५ । ४० । ५९) । उन्हें सूर्यके दक्षिणायन होनेपर वर्षा होनेका ज्ञान था (६ । ३२ । ५) । उन्हें मुद्रा-नीतिकी भी जानकारी थी (५ । २७ । २) ।

वे शकुन्त, मयूर, बिच्छू, साँप आदि विषधर जीवोंके विष-वेगको दूर करनेके लिये प्रार्थना करते थे (१ । १९१ । ७-१६) । पक्षिध्वनिके -अपशकुनको हटानेके लिये २ । ४२ और ४३ सूक्त जपनेकी विधि है । वे समुद्र-यात्रा करते थे (७ । ८८ । ३) । तुग्र-पुत्र भुज्यु समुद्र-यात्रा करते थे (१ । ११६ । ३ और १ । १५८ । ३) ।

घोड़े, कुत्ते और ऊँटकी पीठपर अन्न ढोया जाता था (८ । ४६ । २८) । एक बार एक राजाने ऋषियोंको ६० हजार घोड़े, दो हजार ऊँट, एक हजार काली घोड़ियाँ और एक हजार गायें दानमें दी थीं (८ । ४६ । २२) । चेदि-वंशी राजाने ब्राह्मणोंको बहुत-सी गायें और ऊँट दान दिये थे (८ । ५ । ३७) । ऋग्वेदमें दो बार (६ । ४५ । ३१ और १० । ७५ । ५) गङ्गाजीका उल्लेख है । शव जलाया जाता था (१० । १६ । १) ।

द्युलोक और भूलोककी सृष्टि साथ ही हुई थी; सृष्टि जलाकृति थी; सृष्टि-कर्ता अज्ञेय-से हैं; प्रलयके बाद सृष्टि होती थी (१० । ११९ सृष्टिसूक्त) । नासिकाशून्य और शब्द-रहित जाति भी थी (२ । ३० । ८) । हिरण्यकशिपुके पुरोहित शण्डामर्ककी चर्चा आयी है (२ । ३० । ८) । चारों वर्णोंके सिवा पाँचवाँ वर्ण भी था (१ । ८९ । १०; १ । ७ । ९; १ । १०० । १२) ।

ऋग्वेद (३ । ५४ । ४; १ । २२ । १७; १ । ९० । ९ और १ । १५४ । १) में वामनावतारकी कथा है । खेत जोतनेकी बात है (१ । २३ । ५) । ऋषि दधीचिकी हड्डियोंसे इन्द्रके द्वारा ८१० बार असुरोंका मारा जाना लिखा है (१ । ८४ । १३) । सूर्यकी ही किरणसे चन्द्रमामें दीप्तिका होना लिखा है (१ । ८४ । १५), जिससे विदित होता है कि आर्य ही ज्योतिषकी इस बातके आदिज्ञाता हैं ।

आर्य लोग सोने और लोहे—दोनोंका कवच पहनते थे (१ । २५ । १३; १ । ५६ । ३) । वे ये इक्कीस यज्ञ करते थे—अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ़-पशुबन्ध और सौत्रामणी नामके सात हविर्यज्ञ; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, ऊक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम नामके सात सोमयज्ञ; पितृयज्ञ, पार्वणयज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणीयज्ञ, आश्वयुजीयज्ञ, आग्रहायणी-यज्ञ और चैत्रीयज्ञ (१ । ७२ । ६) नामके सात पाकयज्ञ । प्रथम मण्डलके १६२ वें सूक्तमें अश्वमेध यज्ञका बहुत ही मार्मिक वर्णन है । सूर्यके सात घोड़ोंकी बात वे जानते थे (१ । १६४ । २) बारह राशियों, ३६० दिनों और ३६० रात्रियोंका विवरण उन्हें मालूम था (१ । १६४ । १३) । बारह महीने भी वे मानते थे (१ । १६४ । १२) । इसी मन्त्रमें दक्षिणायन और उत्तरायणकी भी चर्चा है । नकुल और चक्रवाक होते थे (१ । १९१ । १५; २ । ३९ । ३) । विषधर प्राणी अनेक प्रकारके थे

(१ । १९१ सूक्त)। उच्चैःश्रवा घोड़ा समुद्रमें ही जनमा था (२ । ३५ । ६)। प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्रका उल्लेख है (३ । ६२ । १० । आर्यलोग सोनेका अलङ्कार कण्ठमें धारण करते थे (५ । १९ । ३) । वे दो काठोंको रगड़कर अग्नि उत्पन्न करते थे (५ । ९ । ३)। अरुण राजर्षिने अत्रिऋषिको दस हजार सोनेकी मुद्रानिष्क दी थी (५। २७ । १)। वे उनचास पवनोंको जानते थे (५ । ५२ । १७)। वे धनुष, ज्या, धनुष्कोटि, बाण, लगाम, चाबुक, वर्म, विषाक्त बाणका व्यवहार करते थे (६ । ७५ सम्पूर्ण सूक्त) । शहर-के-शहर लोहे और सोनेके बनते थे (७।३।७)। महर्षि वसिष्ठके पास हजार गायें थीं (७ । ८ । ६)। केवल लोहेके बने सौ नगर थे (७ । १५ । १४)। सिंहको मार डालते थे (७ । १८ । १७)। वसिष्ठवंशीय लोग सिरके दाहिने भागमें चूड़ा धारण करते थे (७ । ३३ । १)। पिङ्गल वर्णके अश्व होते थे (७ । ४४ । ३)। नीलवर्णके हंस होते थे (७ । ५९ । ७)। रथपर सारथियोंके बैठनेके तीन स्थान होते थे (७ । ६९ । २)। धूपसे वृष्टि होनेका उल्लेख है (७ । ७० । २)। बहुत तरहके मेढक होते थे (७ । १०३ सूक्त)। उपद्रवी उल्लू, कुक्कुर, बाज और गिद्ध होते थे (७ । १०४ । २२)। प्रतिदिन चालीस कोस चलनेवाले घोड़े होते थे (८ । १ । ९)। सोनेका चर्मास्तरण होता था (८ । १ । ३२)। यदुवंशी आसङ्ग राजाने दस हजार गायें दान दी थीं (७ । १ । ३३)। विभिन्दु नामके राजाने चालीस हजार निष्कका एक बार और आठ हजार (निष्क=स्वर्ण-मुद्रा) का एक बार दान दिया था (८ । २ । ४१)। चेदिवंशीय कशु नामके राजाने सौ ऊँट और दस हजार गायें दान दी थीं (८।५।३७)। वज्र सौ धारोंवाला भी होता था (८ । ६ । ६)। वैश्यका पृथक् भी उल्लेख है (८ । ४५ । १८)। एक बार ७० हजार अश्वों, २ हजार ऊँटों, १ हजार काली घोड़ियों, १० हजार गायों और सोनेका रथ दानमें दिया गया था (८ । ५६ । २२-२४) ।

आर्य ४९ ही नहीं, ६३ वायु भी मानते थे (८ । ४५ । ८)। जड़ी-बूटीसे चिकित्सा की जाती थी (८ । २८ । २६)। शुक, हारीत, भैंस, हंस, बाज आदि बहुत थे (८ । ४५ । ७–९)। तीन तल्लोंवाले मकान भी बनते थे (८ । ५० । १२)। तीस दिनों और तीस रातोंका महीना होता था (९ । ५४ । २)। जौका दान बहुत दिया जाता था (९ । ५५ । १) । ध्वस्त और पुरुषन्ति राजाओंने तीस हजार कपड़ोंका दान किया था (९ । ५८ । ४)। राजा बेन और नहुषके वंशजोंका उल्लेख किया गया है (९ । ८५ । १०; ९ । ९१ । २)। नौकर और वेतनकी चर्चा भी है (९ । १०३ । १)। बच्चे गहने पहनते थे (९ । १०४ । १)। कुरुक्षेत्रके पास शर्यणावान तडागमें सोम होता था (९ । ११३ । १)। जुड़वे बच्चे होते थे (१० । १३ । २)। पितृलोक और यमपुरीका वर्णन मिलता है (१० । १४ सूक्त)। इसी सूक्तमें लिखा है कि श्मशान घाटपर पिशाच रहते हैं और यमद्वारके रक्षक दो भयङ्कर कुत्ते हैं। १० वें मण्डलके १५ वें सूक्तमें पितरोंका पूरा विवरण पाया जाता है। पितृयान और देवयानकी चर्चा पायी जाती है (१० । १८ । १)। १० वें मण्डलके पूरे १९ वें सूक्तमें गायोंकी स्तुति की गयी है। मेष-लोमका कम्बल बनता था (१० । २६ । ६)। गायत्रीको स्तोत्रोंकी माता कहा गया है (१० । ३२ । ४)। द्यूत-क्रीड़ा और तिरपन तरहके पाशोंका उल्लेख मिलता है (१० । ३४ सूक्त)। हाथीको अङ्कुशसे वशमें रक्खा जाता था (१० । ४४ । ९)। जौको कोठीमें भी रक्खा जाता था (१० । ६८ । ३)। ब्राह्मणोंके साथ जो यज्ञ या स्तुति नहीं करते थे, वे हल जोतते थे (१० । ७१ । ९)। नदीसूक्त (१० । ७५) में गङ्गा, यमुना आदि नदियोंका उल्लेख मिलता है। चादर, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी और मघाका उल्लेख पाया जाता है (१० । ८५ । १३)। वाराह भी होता था (१० । ८६ । ४)। इसी मण्डलका ९० वाँ सूक्त पुरुष-सूक्त है।

पाँच-पाँच सौ रथ एक साथ चलते थे (१० । ९३ । १४)। राजा राम और राजा बेनकी बात एक ही मन्त्रमें पायी जाती है (१० । ९३ । १४)। ९५ वें सूक्तमें उर्वशी और पुरूरवाकी प्रसिद्ध कथा है। ९७ वें सूक्तमें औषधों, रोगों और वैद्यकी बात है। अग्निमें ९९ हजार आहुतियाँ देनेका विवरण है (१० । ९८ । १०)। जोताई, हल, सीत, जुआठ, हँसिया, तुंग (चर्म-रज्जु), खेत, गाड़ी, नाद, गोशाला, काठके पात्र, प्रस्तर-कुठार, लौहपात्र आदिका विवरण पाया जाता है (१० । १०१ । २—११)। मेघोंके समान बाण-वर्षण किया जाता था (१० । १०२ । ११)। इसी मण्डलका २०७ वाँ सूक्त दानसूक्त है, १२१ वाँ हिरण्यगर्भसूक्त है और १२९ वाँ नासदीय सूक्त है। ये तीनों ही कण्ठस्थ करने योग्य हैं। १४६ वाँ सूक्त अरण्यसूक्त है, जिसमें प्राकृतिक दृश्योंका हृदयग्राही वर्णन है। १५१ वाँ श्रद्धासूक्त, १५५ वाँ दरिद्रता-नाशकसूक्त, १५८ वाँ चक्षुः-प्राप्ति-सूक्त, १६२ वाँ गर्भरक्षणसूक्त, १६६ वाँ शत्रु-विनाशक और १७३ वाँ राजसूक्त है। इन सबमें अनेकानेक ज्ञातव्य बातें हैं।

आर्यलोग पूषासे कमनीय कन्या माँगते थे (९ । ६७ । १०-११)। दौहित्रको अपना उत्तराधिकारी बनाते थे (३ । ३१ । १-२)। कन्याएँ कशीदा काढ़ती थीं (२ । ३ । ६) वे घड़े भरती थीं (१ । १९१ । १४)। स्त्री गृहमें प्रमुता

करती थी (१० । ८५ । ३०) । वीरप्रसविनी नारीके लिये प्रार्थना की जाती थी (१० । ८५ । ४४) । स्त्रियाँ यज्ञ-कार्यमें नियुक्त की जाती थीं । (१० । ४० । १०) । स्त्रियोंने ऋचाओंका आविष्कार किया था । १० वें मण्डलके ३९-४० सूक्तोंका स्मरण घोषाने किया था । १ मण्डलके १७९ वें सूक्तका आविष्कार लोपामुद्राने किया था । इसी प्रकार १ । १२६ । ६-७ मन्त्रोंकी लोमशा, ५ । २८ की विश्वावारा, १० । १५९ की पुलोम-पुत्री शची और १० । १०९ की जुहू ऋषिकाएँ थीं ।

वस्त्रों और आभूषणोंसे सजाकर कन्याका दान दिया जाता था (१० । ३९ । १४; ९ । ४६ । २) । औरस पुत्रके लिये प्रार्थना की जाती थी (७ । १ । २१) । अनौरससे दूर रहा जाता था (७ । ४ । ७) । स्त्री-पुरुष साथ-साथ यज्ञ करते थे (१ । १३१ । ३) । पर्दा-प्रथा भी थी (८ । ४३ । १९) । ऋग्वेदमें विधवा-विवाहका नामतक नहीं है ।

आचार्य सायणके अनुसार अबतक ऋग्वेद-संहिताका अतीव संक्षिप्त परिचय दिया गया । अभी ऋग्वेद और धर्म, ऋग्वेद और विज्ञान, ऋग्वेद और इतिहास, ऋग्वेद और देवतत्त्व, ऋग्वेद और राष्ट्रशासनपद्धति, ऋग्वेद और व्याकरण तथा कोष, ऋग्वेद और आर्यनिवास, ऋग्वेद और यज्ञ, ऋग्वेद और संस्कार, ऋग्वेद और कर्मयोग, ऋग्वेद और युद्धकला, ऋग्वेद और आयुर्वेद, ऋग्वेद और अन्य हिंदू-शास्त्र, ऋग्वेद और अलङ्कार-शास्त्र, ऋग्वेद और सोमरस, ऋग्वेद और स्वर, ऋग्वेद-सम्बन्धी साहित्य, ऋग्वेदमें पाश्चात्य विद्वानोंका कार्य आदि-आदि अनेकों ऐसे विषय हैं, जिनपर लिखना प्रासङ्गिक है; परंतु स्थानाभावके कारण यहाँ इन विषयोंका उल्लेख नहीं किया जा सका । इसलिये ऋग्वेदके अन्तिम 'एकता-सूक्त'के अन्तिम मन्त्रको देकर उपसंहार किया जाता है—

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासतिः ॥

यजमान-पुरोहितो ! तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों और तुम्हारा मन एक हो । तुमलोगोंका पूर्ण-रूपसे संघटन हो ।*

---

* ऋग्वेदकी संहिताओं या शाखाओंकी संख्याके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है । भर्तृहरिने अपने 'वाक्यपदीय'में पंद्रह, पातञ्जल महाभाष्यने इक्कीस, अणु-भाष्य (१ । १ । १) में उद्धृत स्कन्द-पुराण और आनन्दसंहिता (२) के अनुसार चौबीस तथा श्रीभगवद्दत्तजीके अनुसार सत्ताईस हैं; परंतु तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, इसीके माहिषेय-भाष्य, पातञ्जल महाभाष्य, काशिकावृत्ति, अष्टाध्यायी कल्पसूत्रों, पुराणों आदिमें ऋग्वेदकी सत्ताईससे भी अधिक ये शाखाएँ मिलती हैं—

१ शाकल, २ मुद्गल, ३ गालव, ४ शालीय, ५ वात्स्य, ६ शैशिरि, ७ वाष्कल, ८ बौध्य, ९ अग्निमाठर, १० पराशर, ११ जातूकर्ण्य, १२ आश्वलायन, १३ शांखायन, १४ कौषीतकि, १५ महाकौषीतकि, १६ शाम्बव्य, १७ माण्डुकेय, १८ बह्वृच, १९ पैङ्ग्य, २० उद्दालक, २१ गोतम, २२ शतबलाक्ष, २३ होस्तिक, २४ भारद्वाज, २५ ऐतरेय, २६ वासिष्ठ, २७ सुलभ, २८ शौनक, २९ आश्मरथ्य, ३० काश्यप, ३१ कार्मन्द, ३२ कार्शाश्व, ३३ क्रौड़, ३४ काङ्कृत ।

अभीतक वैदिक-साहित्य और लौकिक संस्कृत-साहित्यके शोध और अन्वेषणका कार्य बाकी है । दोनों साहित्योंके अप्रकाशित ग्रन्थ भी सैकड़ों इतस्ततः पड़े हैं; इसलिये सम्भव है शोध, अन्वेषण और प्रकाशन हो जानेपर इन नामोंमें और वृद्धि हो या न्यूनता हो या शुद्धता हो और ठीक संख्याकी निश्चयता हो । पहले तो विविध ग्रन्थोंमें एक ही नाम इतने रूपोंमें मिलता है कि देखकर आश्चर्य होता है । उदाहरणके रूपमें शाम्बव्य शब्दको लीजिये । इसको कहीं शांवत्य लिखा है, कहीं साम्बाख्य, कहीं संभाव्य, कहीं शांभव्य, कहीं शांवाश्व्य, कहीं शाकाम्य, कहीं शांवव्य, कहीं सांवाख्य, कहीं संवाख्य और कहीं कुछ, और कहीं कुछ । ऐसी दशामें नामोंकी शुद्धतामें ही पहले तो भारी सन्देह है । दूसरे कहीं एक ही नामको शाखामें गिना गया है, कहीं उपशाखामें और कहीं प्रशाखामें ।

वैदिक-साहित्यमें सौत्र-(श्रौत्र-धर्म-गृह्यादि सूत्रसम्बन्धिनी) शाखा भी प्रसिद्ध है । भारद्वाज, हिरण्यकेशी, सत्याषाढ़, बाधूल आदि सौत्र-शाखाएँ वर्तमान ही हैं । बहुत सम्भव है, इन चौंतीस नामोंमेंसे कुछ नाम सौत्र-शाखाओंके हों । इसी तरह सम्भव है, इन चौंतीस नामोंमेंसे कई नाम संहिता-भाष्यकारों, निरुक्तकारों, प्रातिशाख्य-कर्त्ताओं, पदपाठकारों और अनुक्रमणीकारोंके हों । इनमें ब्राह्मण-कुलोंके भी नाम हो सकते हैं । वैदिक-साहित्यको कण्ठस्थ करनेवालों और लिपिकारोंके कारण भी इन नामोंमें अनिश्चिति और अशुद्धि आ गयी है । फलतः जोर देकर यह नहीं कहा जा सकता कि ये चौंतीसों नाम शाखा-प्रवचन-कर्ताओंके ही हैं या ऋग्वेदकी चौंतीस शाखाएँ थीं । जिस शाखाकी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक या उपनिषद् नहीं मिलती, उसकी निश्चयताके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता । हाँ, भारतवर्षमें ऐसे सैकड़ों घर हैं, जिनमें खोज करनेपर वैदिक-साहित्यके अनेकानेक ग्रन्थ मिल सकते हैं । इन ग्रन्थोंसे शाखा-निर्णयमें बड़ी सहायता मिलेगी ।

इसी अनिश्चयताके कारण इस लेखमें लेखकने ऐसे ही शाखा-नाम लिखे हैं, जो अनेकानेक ग्रन्थोंमें अत्यन्त विख्यात हैं । शाखा-संख्या-निर्णयके लिये विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिये । —लेखक

चातक चतुर राम स्याम घनके

(श्रीरामचरितमानसान्तर्गत श्रीलक्ष्मणजीके पवित्र चरित्रपर विचार)

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[गताङ्कसे आगे]

(३)

तीसरी घटना है—गङ्गातटपर पूजनीय पिता श्रीदशरथजीके प्रति प्रयुक्त श्रीलक्ष्मणजीके कटुवाक्य।

पहले तो हमें इसीपर विचार करना चाहिये कि श्रीलक्ष्मणजीने अयोध्यामें ही श्रीदशरथजीके प्रति कुछ भी क्यों नहीं कहा? वहाँ देखा जाता है कि वे पूर्णरीतिसे शान्त रहे। जिस समय प्रभु श्रीराघवेन्द्रने—

राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥

—कहकर उन्हें समझाया, उस समय तो उनके उग्र होनेका एक अवसर था। वे कह सकते थे कि 'जिस पिताने आपको वनवास दिया उसकी सेवा करना मैं धर्म नहीं मानता' किंतु वहाँ उन्होंने इस प्रकारकी कोई बात नहीं कही। वहाँ तो उनका सारा तर्क केवल यही था 'मैं धर्मकी धुरी धारण करनेमें असमर्थ हूँ।' उस प्रसङ्गको ध्यानसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीलक्ष्मणजीकी सहिष्णुताकी तुलना एकमात्र श्रीकौसल्या-अम्बासे ही की जा सकती है।

श्रीरामराज्याभिषेकके बदले उनके वनवासके निश्चयकी घटनाको सुनकर समस्त अयोध्यावासी क्षुब्ध और असहिष्णु हो उठे। यह बात उनके निम्नलिखित उद्गारोंसे स्पष्ट है—

का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥
एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बरु बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा॥
जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु। अबला बिबस ग्यानु गुनु गा जनु॥

सौजन्यशीला श्रीसुमित्रा माताके मुखसे भी 'पापिनि कीन्ह कुदाउ'-जैसे कठोर वाक्य निकल जाते हैं। यहाँतक कि श्रीभरतजी-जैसे परम सहिष्णु धर्मधुरीण पुरुष भी इस घटनाको सहन नहीं कर पाते और क्षुब्ध होकर श्रीकैकेयी मातासे कहने लगते हैं—

बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥

पर श्रीलक्ष्मणजी ऐसी भीषण परिस्थितिमें भी सर्वथा शान्त रहते हैं। उन्हें सबसे अधिक क्रोध तो कैकेयीपर आना सम्भव था। पर उनकी आश्चर्यजनक सहिष्णुता उस समय देखनेको मिलती है, जब निषादराज कैकेयीजीके लिये—

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥

—कहकर लक्ष्मणजीके आराध्य श्रीराघवेन्द्रके दुःखमें कैकेयीको कारण बतलाते हैं। उस समय श्रीलक्ष्मणजी निषादराजकी उक्तिका खण्डन करते हुए कहते हैं—'भाई! कोई किसीको सुख-दुःख नहीं देता, यह सब तो अपने किये हुए कर्मका भोग है।'

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥

इस सहिष्णुताका एकमात्र कारण यह था कि वे अपने पिता दशरथजीके धर्म-बन्धनको जानते थे। कैकेयीको दो वरदान देनेके लिये पिताजी प्रतिज्ञाबद्ध हैं। कैकेयीजी माँगनेमें स्वतन्त्र हैं और धर्मरक्षाके लिये पिताजीका भी कर्तव्य है कि वे कैकेयीजीकी माँग पूरी करें। श्रीलक्ष्मणजी स्वयं प्रेमी थे, पर किसीके धर्मपालनमें हस्तक्षेप करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। हाँ, यदि श्रीराघवेन्द्रके प्रति कोई दुर्व्यवहार हुआ होता तो प्रेमीके नाते वे उसका विरोध करते। पर न वह कैकेयीकी ओरसे हुआ और न पिताजीकी ही ओरसे। श्रीभरतजी राजा हों, इसमें उनका कोई विरोध नहीं था। प्रभुका वन जाना तो वे अपने सेवा-भावकी कसौटी मानते थे। उन्हें लगा कि मुझको सेवाका एक सुअवसर देनेके लिये ही प्रभुने यह लीला की है। उनके मतका समर्थन श्रीसुमित्रा-अम्बाने भी किया—

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

भला, एक प्रेमी इस प्रकार सेवाका सुअवसर देनेवालोंके प्रति घृणाकी दृष्टिसे क्यों देखेगा? पर प्रश्न तो शेष ही रह जाता है कि जब रात्रितक वे पिता-माताको दोषी नहीं मानते थे, तब फिर प्रातःकाल ही ऐसी कौन-सी घटना हो जाती है जिससे वे अपना मत बदल देनेको बाध्य हो जाते हैं और पिताजीको कटुवचन कह बैठते हैं? निश्चितरूपसे उसके बाद

केवल सुमन्तजीद्वारा कथित सन्देश ही एक नवीन घटना रह जाती है।

आइये हम अन्वेषण करें कि कहीं सुमन्तजीके सन्देशमें तो ऐसी बात नहीं जो लक्ष्मणजीके उद्वेगका कारण हो। श्रीदशरथजीने निम्नलिखित सन्देश कहलाया था—

नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथु जाहु राम कें साथा॥
बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥
लखनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥

अभीतक तो श्रीलक्ष्मणजी पिताजीको धार्मिक मानते हुए शान्त थे; किंतु इस सन्देशने उनके हृदयमें एक प्रश्न उत्पन्न कर दिया कि 'पिताजी धार्मिक हैं या प्रेमी।' यदि वे धार्मिक हैं तो उन्हें दृढ़तापूर्वक वचनोंका पालन करना चाहिये। और यदि वें प्रेमी हैं, तो उन्हें पहले ही चाहिये था कि सत्यकी चिन्ता किये बिना कैकेयीको स्पष्टरूपसे बता देते कि वे सत्यसे अधिक महत्त्व प्रभुके निकट रहनेका देते हैं। तब तो—

बारउँ सत्य बचन श्रुति सम्मत जाते बिछुरत चरन तिहारे।

—जैसा वाक्य ही सच्चे प्रेमीका आदर्श हो सकता है। अतः यदि वे धर्मको छोड़कर प्रभु-प्रेमकी रक्षा करते तो श्रीलक्ष्मण-जैसे महाप्रेमीके लिये इससे बढ़कर प्रसन्नताकी और बात ही क्या थी? पर इस सन्देशसे वे न तो प्रेमी ही सिद्ध होते हैं और न धार्मिक ही। यदि वे धार्मिक हैं तो—

लखनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥

—कहना सर्वथा असङ्गत है। और यदि वे प्रेमी हैं तो फिर—

बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई ······॥

—की क्या आवश्यकता? तब फिर जो व्यक्ति न धार्मिक है और न प्रेमी ही, वह दुर्बल ही सिद्ध होगा। और तब तो यह मानना पड़ता है कि वे धर्मरक्षाके लिये नहीं, अपितु दुर्बलतावश कैकेयीकी बात मान रहे हैं।

धर्मरक्षाके लिये प्रभुका परित्याग समझमें आनेवाली बात थी, पर इस सन्देशने उन्हें विचलित कर ही दिया। एक बार वन जानेकी आज्ञा देनेके पश्चात् प्रेमी बननेकी इस चेष्टाको जिसमें पूर्ण प्रेमका पालन नहीं दीखता है, श्रीलक्ष्मण-जैसे महान् प्रेमी अपनी प्रेम-मर्यादावश प्रेमसिद्धान्तमें, प्रेमके स्वच्छ पटमें एक धब्बे-जैसा ही मान सकते हैं*। प्रेममें न तो व्यक्तिका महत्त्व है, न तो सम्बन्धका ही। दुर्बलता अन्य सर्वत्र सह्य हो सकती है, पर प्रेम-राज्यमें नहीं। प्रेम-राज्यके आचार्य श्रीलक्ष्मणजी इसे सहन करें, यह कैसे सम्भव है! श्रीदशरथजीके इस नवीन प्रयासके प्रति ही श्रीलक्ष्मणजीका विरोध है। श्रीलक्ष्मणजीके ये विचार ठीक हैं या नहीं, यह दूसरी बात है, पर वे प्रेमकी जिस स्थितिमें हैं उसमें उनका यह सोचना बिल्कुल स्वाभाविक है।

चातक स्वयं ही प्राण देकर प्रेम-पटमें खोंच नहीं आने देता, इतना ही नहीं, वह तो प्रेम-राज्यके प्रत्येक सदस्यसे भी यही आशा रखता है—

तुलसी चातक देत सिख सुतहिं बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजियो बिना बारिधर धार॥

एक प्रेमी चातकका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्यो बाहिर बारि॥

किसी चातकने अण्डा फोड़कर उसमेंसे बच्चा निकाला; परंतु अण्डेके छिलकेको पानीमें पड़ा हुआ देखकर उस (प्रेम-राज्यके) चतुर चातकने तुरंत उसे पंजेसे पकड़कर जलसे बाहर फेंक दिया।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि श्रीलक्ष्मणजीने आवेशमें आकर नहीं, अपितु (प्रेम) सिद्धान्तके नाते दशरथजीके प्रति कठोर शब्दोंका प्रयोग किया।

महाप्रेमी श्रीलक्ष्मणजीके इन कठोर कहे जानेवाले वचनोंने श्रीदशरथजीको दुखी नहीं; किंतु आश्वस्त ही किया। इसीसे तो सुमन्तजीने प्रभुके द्वारा शपथ देकर रोके जानेपर भी श्रीदशरथजीसे इतना संकेत तो कर ही दिया—

लखन कहे कछु बचन कठोरा।
बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥

उपर्युक्त दोनों ही बातें वात्सल्यस्नेहविग्रह परमप्रेमी महाराज श्रीदशरथजीको बड़ा भरोसा दिलानेवाली थीं। एक तो मेरे रामको इतना बड़ा प्रेमी प्राप्त हो गया है, जो उनके लिये मेरा (पिताका) भी तिरस्कार कर सकता है। तब फिर उन्होंने श्रीरामजीको वन क्यों भेजा? इसका उत्तर किसी स्वतन्त्र लेखमें देनेकी चेष्टा की जायगी। श्रीलक्ष्मणजीको तो वह कारण ज्ञात था नहीं, अतः उनका ऐसा सोचना स्वाभाविक है।

* कोसलराज श्रीदशरथजी सच्चे प्रेमी थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।

फिर यदि कोई दूसरा उन्हें कष्ट पहुँचानेकी चेष्टा करेगा, तो लक्ष्मणसे त्राण पाना उसके लिये असम्भव होगा। मेरे राम अकेले नहीं, अपितु एक महाव्रतीके द्वारा सुरक्षित हैं। इससे बढ़कर श्रीदशरथजी-जैसे सच्चे प्रेमीके लिये प्रसन्नताका क्या विषय हो सकता है।

दूसरा यह कि रामके हृदयमें मेरे प्रति इतना अगाध स्नेह है कि मेरे द्वारा वन दे दिये जानेपर भी उनके हृदयमें पूर्ववत् स्नेह और श्रद्धाका भाव बना हुआ है।

श्रीलक्ष्मणजीके कटु भाषणसे ही प्रभुका सौशील्य प्रकट हुआ कि श्रीराघवेन्द्रके मनमें पिताजीके प्रति तनिक भी कटुता नहीं है। लक्ष्मणजीके लिये श्रीराघवेन्द्रके यशदण्डकी उपमा बड़ी ही सार्थक प्रतीत होती है। नीरस काठ, उसपर भी दूसरोंपर प्रहार करनेवाला। पर वही पताकाको ऊँचा उठाता है। श्रीलक्ष्मणजी स्वयं प्रहार करते हुए प्रतीत होते हैं, पर उनके हृदयमें भाव यही है कि प्रभुका यश व्यक्त हो। श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके निकट रहकर भी अपनी विशेषताओं-को गुप्त रख सके—यही उनकी विशेषता है और आश्चर्यजनक अप्रतिम कार्य है।

(४)

श्रीभरतजीके ससैन्य और सपरिजन-स्वजन चित्रकूट पधारनेके अवसरपर श्रीलक्ष्मणजीने उनके प्रति जिन कटु वाक्योंका प्रयोग किया, उनको पढ़कर ऐसा प्रतीत होना सहज है कि श्रीलक्ष्मणजीका यह कार्य अविवेकपूर्ण है; परंतु ऐसी प्रतीति भी प्रेमके दृष्टिकोणको भुला देनेसे ही होती है। श्रीलक्ष्मणजी-सदृश महान् प्रेमीके किसी कार्यपर केवल प्रेमकी दृष्टिसे ही विचार करना आवश्यक है, तभी उनके कार्यका अन्तर्निहित महत्त्व दिखलायी देता है और तभी उसको यथार्थतः समझा जायगा। प्रेमकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। अपनी मान्यतामूलक परिभाषाओंके आधार-पर विचार करनेसे तो उनके स्वरूपका विपरीत दर्शन ही होगा। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता कि बिना बुद्धि-वैभवको छोड़े प्रेमरूपी अमूल्य धनको कोई प्राप्त ही नहीं कर सकता। यदि श्रीलक्ष्मणजीके मनमें सदा यही ध्यान बना रहता कि 'श्रीरामजी तो पूर्ण ब्रह्म, अज, अनीह, सच्चिदानन्दघन ही हैं और सारी क्रिया उन्हींकी इच्छासे नाट्यरूपमें ही हो रही है' तब तो उनके लिये श्रीरामजीकी रक्षा करनेकी तो बात दूर रही, उनकी सेवा करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसीसे गोस्वामीजीने श्रीलक्ष्मणजीकी प्रभुके प्रति की गयी सेवाओंके लिये बड़ी ही सुन्दर उपमा दी है—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

श्रीभरतजी सम्पूर्ण सेनादिके सहित आ रहे हैं। इस समाचारको सुनकर श्रीमद्राघवेन्द्रके मनमें किसी भाव-विशेषका उदय होनेके कारण उनके श्रीमुखपर व्यग्रताके भाव दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि इसका कारण भय नहीं, अपितु श्रीभरतजीका प्रेम है। श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके मुखकी ओर देखते हैं एवं उनके श्रीमुखपर द्वन्द्वके भाव परिलक्षित देख, वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। उन्हें तुरंत स्मरण हो आता है माता सुमित्राके उन पवित्र उपदेश-वाक्योंका, जो उन्होंने चलते समय अपने महाव्रती पुत्रसे कहे थे—

जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

महानुभावोंने प्रेमियोंके चित्तको 'प्रेमानिष्टशङ्की' बतलाया है। साधारणतः यह देखा भी जाता है कि किसी प्रियजनके आनेमें विलम्ब होनेपर अनिष्टकी ही आशङ्का निकट-सम्पर्कीय व्यक्तियोंको होती है। दूरवाले तो कोई-न-कोई बुद्धि-सङ्गत कारण ढूँढ़नेकी चेष्टा करते हैं। बस, इसी प्रेमी स्वभावने उन्हें यह कल्पना करनेके लिये विवश कर दिया कि, 'श्रीभरतजी प्रभुपर आक्रमण करनेके लिये आ रहे हैं।' सेनासहित आना इनके इसी तर्ककी पुष्टि कर रहा था। चौंकिये नहीं, थोड़े विचारसे ही यह बात अत्यधिक स्पष्ट हो जायगी। पहला प्रश्न तो यही उठता है कि 'प्रभु यदि भरतजीके प्रति ऐसे वाक्य सुनना नहीं चाहते थे, तो उन्होंने श्रीलक्ष्मणजीको प्रारम्भमें ही क्यों नहीं रोक दिया।' यहाँ यह भी सोचना कि श्रीलक्ष्मण-जी प्रभुकी बात न मानते—उनके स्वभावानभिज्ञताका ही सूचक होगा। वे तो प्रभुके दृष्टि-निक्षेपमात्रसे ही चुप हो सकते थे। इसके लिये 'बालकाण्ड'में ध्यान देना चाहिये।

सयनहि रघुपति लखन निवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥

एवं—

सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम।
गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम॥

सीधी बात तो यह है कि एक साधारण योगी भी दूसरों-के मनकी बात ठीक-ठीक जान लेता है, तब फिर भला परम प्रभुकी सेवामें सर्वदा संलग्न रहनेवाले श्रीलक्ष्मणजी ऐसी भूल करें, यह कैसे संभव है। पर प्रभुको जब कोई विशेष शिक्षा देनी होती है, तब अपने प्रेमियोंके मनमें ऐसी बातें उत्पन्न करके उसके द्वारा आदर्श उपस्थित कर देते हैं। नहीं तो

भला, जिस समय श्रीहनुमान्‌जी द्रोणागिरिसे औषध (संजीवनी-बूटी) लेकर लौट रहे थे, तब उन्हें देखकर श्रीभरतजी-जैसे महात्माके मनमें श्रीहनुमान्‌जी-जैसे परम भक्तके लिये 'निशाचर'का भाव आना, और भाव ही नहीं बाण भी चला देना, कैसे संभव था। पर प्रभुको तो अभीष्ट ही था—परमभक्त श्रीहनुमान्‌जीके मनमें (लीलाके लिये ही) अङ्कुरित हुए गर्वके नाशकी लीला करना। ठीक इसी प्रकार यद्यपि प्रभुके मनमें भरतजीके प्रति अगाध स्नेह और पूर्ण विश्वास था, पर श्रीलक्ष्मणजीके मनमें ऐसे भाव उत्पन्न कर उन्होंने एक ही साथ दो कार्य कर डाले। एक तो सच्चे प्रेमीका आदर्श प्रकट कर दिया। सच्चा प्रेमी कितना ममत्वहीन होता है। वह अपने प्रियतमके ऊपर अपने सबसे निकटस्थ व्यक्तियोंको आक्रमण करते देखकर ममत्वसे विचलित नहीं हो सकता। प्रभुके विरोधमें आये हुए भरत ही नहीं, सहोदर अनुज शत्रुघ्नका भी सच्चा प्रेमी भक्त तिरस्कार ही नहीं, वध भी कर सकता है।

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥

× × ×

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥

प्रेमी भक्तकी दृष्टिमें व्यक्तिका कोई मूल्य नहीं। उसके सारे सम्बन्ध समाप्त हो चुके होते हैं। उसका नाता, उसकी पूजनीयताकी कसौटी केवल एक ही है—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं राम के नाते॥

श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें भी देखिये—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

× × ×

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।
'तुलसी' सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो॥
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

श्रीभरतजीके प्रति श्रीलक्ष्मणजीके मुखसे प्रभुने कठोर वाक्योंको कहलाकर संसारको यह शिक्षा दी कि बिना ऐसा ममत्वहीन और दृढचित्त हुए कोई भी सच्चा प्रेमी नहीं बन सकता। दूसरी बात यह है कि यदि श्रीलक्ष्मणजीके मुखसे ऐसे कटु शब्द न निकले होते तो उनका (प्रभुका) श्रीभरतजीके प्रति कितना अपार तथा अगाध विश्वास और अप्रतिम प्रेम है—यह उनके मुखसे कैसे व्यक्त होता। सच बात तो यह है कि उन्हें (प्रभुजीको) श्रीभरत-गुण-गानकी इच्छा हो रही थी। 'नटनागर' प्रभुने इस परम प्रेमीको निमित्त बनाकर अपनी ही लालसा पूरी कर ली। श्रीलक्ष्मणको छोड़कर कौन दूसरा ऐसा प्रेमोन्मत्त त्यागी हो सकता है कि जो प्रभुकी इस अभिलाषापूर्तिके लिये अपनेको विवेकहीन और आवेशशील सिद्ध करता। इच्छापूर्तिका निमित्त भी उसीको बनाया जाता है जो सर्वथा अपना हो, जो किसी भी व्यवहारसे दुःख न माने। इसमें तो प्रभुका श्रीलक्ष्मणजीके प्रति अत्यधिक अपनत्व ही सिद्ध होता है। किसी कारणविशेषसे किसीको श्रीलक्ष्मणजीके इस महात्यागका साक्षात्कार न हो, पर प्रभु तो सब जानते ही हैं। इसीसे श्रीगोस्वामीजी इस उग्र भाषणके पश्चात् भी श्रीकिशोरीजी और प्रभुके द्वारा श्रीलक्ष्मणजीका सत्कार करना लिखते हैं।

सुनि सुर बचन लखन सकुचाने।

किंतु,

राम सीय सादर सनमाने॥

यह सम्मान किसलिये ? उनके अनुचित वाक्योंके लिये ! इसका निर्णय विचारशील सज्जन स्वयं करें।

उपर्युक्त बातें तो केवल इसीलिये लिखी गयी हैं कि श्रीलक्ष्मणजीके पुनीत चरित्रके सम्बन्धमें किसीको भ्रम न हो, अथवा कहीं कोई भ्रम हो तो वह निवृत्त हो जाय। वास्तवमें श्रीलक्ष्मणजी तो महान् कल्याण-गुण-गणोंकी खान हैं। अवश्य ही उनके सारे गुण हैं केवल प्रभुके निमित्त। इसीलिये साधारणतया लोग उनके महत्त्वको नहीं समझ पाते। पर अपने महान् गुणोंसे वे श्रीरामजीकी ही सेवा करते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे समाज या विश्वके विरोधी हैं। वे तो जगदाधार शेष ही हैं। उनका अवतार तो 'भूमि भय टारन'के लिये हुआ है।

सेष सहस्र सीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर॥

पर उनकी सेवाकी शैली ऐसी विलक्षण है कि जो बाहरसे देखनेपर विश्वके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि वृक्षको हरा-भरा रखनेके लिये डाली और पत्तोंको अलग-अलग सींचनेकी कोई आवश्यकता नहीं। मूलमें ही जलसिञ्चन करनेपर अपने आप सारा वृक्ष हरा-भरा रहेगा। और इस विश्ववृक्षके मूल हैं—सर्वकारण-कारण

भगवान् श्रीराघवेन्द्र । ऐसी परिस्थितिमें वे एक चतुर मालीकी भाँति अनवरत एकान्तभावसे एकमात्र श्रीप्रभुकी ही सेवामें संलग्न रहते हैं । वाटिकामें माली केवल मूलमें जल-सिञ्चन करते देखा जाता है । हाथमें तो होती है उसके कैंची जिसके द्वारा वह डाली-पत्तोंकी काँट-छाँट करता रहता है । इससे क्या वह निर्दय है ? क्या उसका लक्ष्य वृक्षोंको नष्ट करना है ? नहीं, उसकी तो प्रत्येक चेष्टा वाटिकाको सुन्दर बनानेकी ही है । उसकी इस व्यवहारमें की गयी निर्दयताकी-सी क्रियाको देखकर कोई उसे निष्ठुर समझे, तो यह उस समझनेवालेका ही बुद्धिजन्य दोष है । इसीलिये श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रपर विचार करते समय हमें ऊपर-ऊपरसे नहीं देखना चाहिये । गम्भीरतासे विचार करनेपर निश्चय ही श्रीलक्ष्मणजी चन्द्रमासे अधिक शीतल, सूर्यसे अधिक प्रकाशमान और अमृतसे भी मधुर प्रतीत होंगे । उनके चरित्रकी इस दुरूहताको लक्ष्य करके ही हमारे महाकविने उनकी वन्दना, अन्य भाइयोंकी अपेक्षा भी अधिक शब्दों और अधिक चौपाइयोंमें की । वह वन्दना ही है—श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रकी कुंजी । वन्दनाके प्रत्येक शब्दको हृदयङ्गम कर लेनेके पश्चात् हमें श्रीलक्ष्मणजीके पूर्ण और यथार्थ स्वरूपदर्शनकी सुविधा प्राप्त हो जाती है । इसलिये यहाँ महाकविकी उन पंक्तियोंको पुनः उद्धृत किया जाता है । आशा है कि पाठक गम्भीरतापूर्वक इनका मनन करते हुए लेखकी शैलीपर दृष्टि डालेंगे ।

बंदउँ लछिमन पद जल जाता । सीतल सुभग भगत सुख दाता ॥
रघुपति कीरति बिमल पताका । दंड समान भयउ जस जाका ॥
सेष सहस्र सीस जग कारन । जो अवतरेउ भूमि भय टारन ॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर । कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर ॥

इसीके साथ ही 'नामकरण'के अवसरपर गुरु वशिष्ठजीद्वारा किये गये चारों नामोंका अर्थ यदि हम समझ लें तो हमें उन पात्रोंके वैलक्षण्यका ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है । उन्होंने चारों भाइयोंके नामार्थका निर्देश करते हुए श्रीदशरथजीसे निम्नलिखित वाक्य कहे हैं ।

१. श्रीरामचन्द्रजीके लिये—

जो आनंद सिंधु सुख रासी । सीकर तें त्रैलोक सुपासी ॥
सो सुखधाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥

२. श्रीभरतजीके लिये—

बिस्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ॥

३. श्रीशत्रुघ्नजीके लिये—

जाके सुमिरन तें रिपु नासा । नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ॥

४. श्रीलक्ष्मणजीके लिये—

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार ।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार ॥

यहाँ श्रीलक्ष्मणजीका नामकरण सबके अन्तमें करनेका भी स्पष्ट अभिप्राय यही है कि जैसे 'शेष' सबसे नीचे रहते हैं और अपनेको छिपाये हुए भी सारे विश्वको सम्हाले हुए हैं, उसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी भी तीनों भाइयोंकी समग्र विशेषताओं-सहित होते हुए भी केवल आधाररूपमें अपनेको छिपाये हुए हैं । ध्यानसे देखनेपर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि तीनों भाइयोंकी विशेषता अकेले श्रीलक्ष्मणजीमें निहित है । भगवान् श्रीरामका 'अखिल लोकदायक बिश्रामा' उपर्युक्त दोहेमें आये हुए 'राम प्रिय' शब्दसे ही सम्बन्धित है । तात्पर्य यह कि यद्यपि 'अखिल लोक विश्रामदायक' भगवान् श्रीरामजी माने जाते हैं; पर वह श्रीलक्ष्मणजीके साथ रहनेसे ही सम्भव हुआ, इसीलिये सारे विश्वको 'राम' प्रिय हैं । पर श्रीरामको तो सर्वाधिक प्रिय हैं 'श्रीलक्ष्मण' । इसलिये उनका एक नाम है 'राम-प्रिय' । इसी प्रकार श्रीभरतजी 'बिस्व भरन पोषन कर जोई' हैं; पर वह विश्व-भरण-पोषण श्रीलक्ष्मणके त्याग-द्वारा ही सम्भव हुआ; क्योंकि वे 'सकल जगत आधार' हैं । भरण-पोषण कर्ता प्रत्यक्ष है, पर आधार सहज दृष्टिगम्य नहीं ।

श्रीशत्रुघ्नजीका विशिष्ट लक्षण शत्रुनाशन है । पर इस लक्षणका कोष जहाँसे यह प्राप्त किया गया है, वह कोई दूसरा ही है । और वे हैं 'लच्छन धाम' श्रीलक्ष्मणजी ही । पर इसके साथ एक गुण उनमें और भी विलक्षण है, वे 'उदार' भी हैं । उनकी उदारता अतुलनीय है । प्रभु तथा अन्य भ्राताओंका यश-ख्यापन करनेके लिये उन्होंने बड़ी ही उदारताके साथ अपने यशका परित्याग कर (बाह्य दृष्टिसे देखनेपर) असहिष्णुता आदि अनेक दोष, अपनेमें दृष्टिगोचर करवाये । इस तरह 'रामप्रिय, लक्षणधाम, सकल जगत्-आधार और उदार'—श्रीलक्ष्मणजीके नामका पवित्र अर्थ है । पर वे छिपे होनेके नाते, (शेष जो हैं) ध्यानसे देखनेपर ही दीख सकते हैं । आइये, इस दृष्टिसे उनके अगाध समुद्रवत् चरित्रमेंसे कुछ गुण-गण-मुक्ता प्राप्त करनेकी चेष्टा करें । उनके चरित्रकी सबसे बड़ी विलक्षणता है—उनकी 'रामानन्यता' । जो उनको छोड़ पूर्ण रीतिसे अन्यत्र प्राप्त होना कठिन ही नहीं, असम्भव है । वे अनन्योंमें भी अनन्य और चातकमें भी सर्वश्रेष्ठ (चतुर) चातक हैं ।　　(क्रमशः)

तपस्वी

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(गीता १२ । १६)

वह एक वानप्रस्थ-आश्रम है, चारों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियोंसे घिरा हुआ। एक गुफा है स्वच्छ लिपी-पुती। उसके द्वारपर सदा नवीन तोरण सजा रहता है। दोनों ओर केलेके वृक्ष लगे हैं, खूब पुष्ट और उनमें बड़ी-बड़ी घारें लटक रही हैं। गुफाके बीचमें हवनकुण्ड है और उसमेंसे रात-दिन सुगन्धित धुआँ उठता रहता है। कुण्डके आसपास घृतका पात्र, स्रुवा, ब्रह्मदण्ड, उपवीती आदि हवनके उपकरण हैं और कोनेमें सूखी समिधाओंकी ढेरियाँ हैं। कुश रक्खे हैं और बैठनेका आसन है। सब वस्तुएँ स्वच्छ हैं तथा सजाकर रक्खी गयी हैं। कहीं भी न तो एक कण बिखरा है और न कोई वस्तु अस्त-व्यस्त है।

पासमें ही झरना है। उसका कलकल शब्द सुनायी पड़ा करता है। मृगोंके झुंड शङ्काहीन होकर घूमते या बैठकर जुगाली करते हैं। गिलहरी, शशक, मयूर, पक्षी सब इस प्रकार घूमते हैं, जैसे पालतू हों। जैसे यहाँ रहनेवाला व्यक्ति उनका आत्मीय हो। दूध-सा उजला चञ्चल बछड़ा है और गौ है खूब पुष्ट, जैसे गोलोकसे कामधेनु अपने बछड़ेके साथ उतर आयी हो। उस गायके गलेमें बाँधनेका चिह्न नहीं है। वह कभी बाँधी नहीं जाती; किंतु अपने पालकसे उसे इतना प्रेम है कि आश्रम छोड़कर उसके भाग जानेकी कल्पना भी सम्भव नहीं।

यह सब किया किसने है ? वे तपस्वी हैं। उनके सिरकी जटाओं एवं दाढ़ी-मूँछोंके केश आधे पक गये हैं। शरीर दुर्बल है। हड्डी-हड्डी गिनी जा सकती है। नसें उभड़ आयी हैं। नख बड़े-बड़े हैं। कमरमें मूँजकी मोटी मेखलामें पतली-सी केलेकी छालकी कौपीन ही उनका वस्त्र है। ऊँचे शालवृक्षकी जड़के पासकी वेदीपर वे रात्रिके दूसरे प्रहरमें बैठे मिल सकते हैं। वर्षाऋतुमें जब खूब आँधी चलती है और वृष्टि होती है, वे खुले आकाशके नीचे बैठते हैं। उस समय वृक्षके नीचे भी नहीं रहते। शीतकालमें झरनेके हिमशीतल जलमें गलेतक डूबे रातभर खड़े रहते हैं। गर्मियोंमें दिनभर चारों ओर अग्नि जलाकर बीचमें बैठकर भगवान् भास्करको देखते हुए पञ्चाग्नि तापते हैं।

शीतमें जब हिमपात होता है, धुनी रुई-सी बरफ उनकी जटाओंमें भर जाती है। उसे झाड़नेकी ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं। ग्रीष्ममें प्रचण्ड लू चलती है, सिरपरसे स्वेद-धार चलती है और छाती-उदरसे होती चरणोंपर टपकती रहती है। उन्हें जैसे कुछ पता ही नहीं लगता। वर्षामें बादल घिर आते हैं, मूसलाधार वृष्टि होती है, बिजली कड़कती है, वृक्ष टूट-टूटकर गिरते हैं, कभी ओले पड़ते हैं; परंतु उनकी पलकेंतक नहीं हिलतीं। वे तीनों सन्ध्याओंके समय तीनों देवताओंकी शक्तिरूपा, तीन व्याहृतिवाली गायत्रीका ध्यान करते हैं—शान्त, स्थिर मनसे। उनका जप अखण्ड चलता है।

वे कभी सोचतेतक नहीं कि कौन-सी ऋतु अनुकूल है और कौन-सी प्रतिकूल। वायु चाहे शीतल-मन्द-सुगन्ध चले या आँधी-तूफान बने, उन्हें कुछ चिन्ता नहीं। बिना जोती भूमिमें वे नीवारों (मुन्यन्नों)के बीज डाल देते हैं बिना यह सोचे-समझे कि वे उगेंगे भी या नहीं। नीवार उगते हैं तो हरिन, गवय (नीलगाय), शशक, वाराह जो चाहें—जितने चाहें चरें। जब अन्नकी बालें पकती हैं, पक्षी भरपेट उससे तृप्त होते हैं। इससे जो बचता है, उसे वे काटकर एकत्र करते हैं। गुफामें रख देनेपर भी चींटियाँ, चूहे, गिलहरियाँ उसमेंसे बराबर ढोती रहती हैं। उनकी दृष्टिमें सबका उसमें भाग है और सब अपना भाग ही लेते हैं। कभी वे नहीं सोचते कि उनके लिये भी कुछ बचेगा या नहीं। जब नवीन अन्न हो जाता है तो बिना यह सोचे कि वह कामभरको है भी या नहीं, पुराने संग्रहको नदीके किनारे छींट दिया जाता है। तब नयेका संग्रह करके उसका छठा भाग किसी जलाशयके किनारे इसलिये रख दिया जाता है कि राज्यके कर्मचारी यह 'कर' उठा ले जावें।

अन्नकी वैसे भी बहुत कम आवश्यकता है उनके लिये। कभी एकादशी, कभी प्रदोष, कभी शिवरात्रि, कभी कोई पर्व—

इस प्रकार व्रत पड़े ही रहते हैं। इनके अतिरिक्त चान्द्रायण, तप्तकृच्छ्रादि भी बार-बार किये जाते हैं। वर्षके दो-तिहाई दिन तो व्रतोंमें चले जाते हैं। जिस दिन भोजन भी करना हो तो एक ही समय किया जाता है। वायु ठीक हो, वर्षादि न हो तो वृक्षके नीचे मिट्टीके पात्रमें श्यामाक राँध लेंगे। वर्षा हुई या वायुने अग्नि जलानेमें बाधा दी तो देवधान्यको पत्थर-पर पीसकर जल मिलाकर सत्तू बना लेंगे। यदि वृष्टि तीव्र हुई और पीसनेमें भी बाधा पड़ी तो दाँत तो सुदृढ़ हैं ही, दो मुट्ठी 'टाँगुन' चबा लेंगे—छुट्टी हुई। पेटकी ज्वाला ही तो बुझानी है। गुफा तो अग्निदेवके लिये है। वह आराध्य-मन्दिर है। हवन-अग्नि-आराधनाको छोड़कर वहाँ न रहा जा सकता और न अपने निमित्त वहाँ कुछ किया जा सकता है।

उनका संतोष सामान्य समझसे बाहर है। अति वृष्टिसे नीवार बह जायँ तो वे फलोंपर संतोष कर लेंगे। फल न भी हों तो पत्ते तो हैं ही। अकाल पड़ता है—वृक्षोंके पत्तेतक सूख जाते हैं, पर वे वैसे ही निश्चिन्त रहते हैं। उनका मन मान लेता है कि सूखेके समय कसैले कन्द स्वादिष्ट हो जाते हैं। उनके ऊपर पक्षी बींट कर दें, यह कदाचित् ही होता है और प्रमादवश अपवित्र स्थानोंपर उनके चरण पड़ें यह और भी कठिन है; किंतु पक्षियोंके भी तो अबोध बच्चे होते हैं, वे भूल भी कर जाते हैं। उन्हें रोष या झिझक होती ही नहीं। जो जाड़ोंमें रातभर गलेपर्यन्त जलमें डूबा रहता है, वह तीन बारके बदले चार बार स्नान कर लेगा।

'अग्निशालामें जानेसे पूर्व स्नान करना ही चाहिये।' यह नियम है। आपका यह तर्क व्यर्थ है कि वहाँ जब द्वार नहीं है तो बनबिलाव, चूहे, शशक भी तो जाते हैं। वे इस सम्बन्ध-में भ्रमहीन हैं कि पवित्रता एक तपस्या है और वह अपने किये होती है। दूसरेको उसके लिये विवश नहीं किया जा सकता। हड्डी, मज्जा, रक्त, मांस, मलके पुतले शरीरमें शुद्ध क्या होगा? शौचाचारका उद्देश्य है पदार्थमें आये विकारको दूर करना और दूसरोंके संसर्गको हटाना। शौचाचार मानसिक शुद्धिका साधन है। वे समिधा, कुश, बिल्वपत्र, पुष्प आदि कोई वस्तु जलसे शुद्ध किये बिना काममें नहीं लेते। पात्र एवं वल्कल एक बार काम आनेपर फिर धोये ही जायँगे।

'जो बराबर व्रत करेगा, वह दुर्बल होगा। बराबर कोई कहाँतक कष्ट सह सकता है। ऐसा व्यक्ति विधि-पालनमें भूल न करे, यह असम्भव है।' ऐसी बात साधारण व्यक्तिके लिये ही ठीक है। जिसमें निष्ठा है, वह इससे परे है। वे नित्य पञ्चयज्ञ करते हैं, पर्वोंपर पितृ-तर्पण तथा देवार्चन नियमित रूपसे होता है। दूषित, कटा-फटा, कीड़ेका खाया एक पुष्प, पुष्पका एक दल, कुशका एक पत्र भी आराधनामें आ जाय, यह सम्भव नहीं है। बिना आवश्यकताके एक पत्तातक तोड़ा नहीं जाता। यन्त्रकी भाँति सभी कार्योंके लिये समय निश्चित है। तनिक भी व्यतिक्रम हो नहीं सकता।

न तो मन्त्रोंका उच्चारण अस्पष्ट होगा और न क्रममें भूल होगी। हवि बनानेमें एक कण नहीं बिखरेगा। आश्रमकी स्वच्छता बता देती है कि वे कितने सावधान हैं। होमधेनु समयपर प्रदीप एवं पूजा प्राप्त करती है और गोबर इतनी शीघ्रतासे हटा लिया जाता है कि चञ्चल बछड़ा उसे बिखेरने-का अवकाश ही नहीं पाता।

उनका प्रकृतिका ज्ञान अगाध है। 'चीलें ऊपर उड़ रही हैं, अतः वर्षा होनेवाली है।' वे समिधाएँ एकत्र कर लेंगे। किस नक्षत्रमें बोनेपर नीवार ठीक उगेंगे, यह बिना पञ्चाङ्गके भी वे वहाँ जान लेते हैं। सृष्टिकर्ताने जैसे प्रमाद, आलस्य उनके हिस्सेमें दिया ही नहीं।

लगन ही कलाकी जननी है। शीत ऋतुमें मल्लिका कुसुम और ग्रीष्ममें कुवलय (नीलकमल) की माला वे अग्निदेवको अर्पित करते हैं। कब क्या प्रिय होता है, यह तो लगन बतलाती है और वह माला—वह उनके करोंकी कलाकी सूचक है।

दिनचर्या—ब्राह्ममुहूर्तमें स्नान करके ध्यानस्थ हुए और भगवान् भास्करको अर्घ्य देने उठे। हवनके पश्चात् आश्रमके समस्त कार्य दिनके प्रथम प्रहरमें ही समाप्त हो जाते हैं। मध्याह्न-सन्ध्या समाप्त होती है तो सायं-सन्ध्यामें दो घड़ीहीका अवकाश रहता है। इसमें आश्रम-सेवा और सायंकाल-हवन, गोपूजन और फिर जो आसन लगा तो ब्राह्ममुहूर्त।

कभी-कभी अतिथि पधारते हैं। शालवृक्षके नीचेकी वेदी उनके चरणोंसे पवित्र हो जाती है। बनानेवालेमें कुशलता हो तो नीमका पत्र भी स्वादिष्ट शाक बन जाता है। कन्द, मूल, फल और दूधमें पकाये मधुमिश्रित नीवार—अतिथिको अनुभव ही नहीं होता कि वह एक तपस्वीके यहाँ है। वेदिकापर कोमल पल्लव एवं पुष्पोंका आसन बन जाता है। तपस्वीके आश्रममें दूध, मधु, पुष्प, पल्लव या तो भगवान् अग्निदेवके लिये हैं या उनके साक्षात् स्वरूप अतिथिके लिये ही।

× × × ×

उस दिन आश्रममें एक अतिथि आ गये। किशोर, ऋषिकुमार, तेजस्वी। गौरवर्ण, दुर्बल शरीर, मूँजकी मेखला, यज्ञोपवीत, वल्कल पहने जैसे कोई तेजोमय देवता ही ब्रह्मचारी-वेषमें आ गया हो। तपस्वीने आते ही भूमिमें लेटकर प्रणाम किया। अर्घ्य देकर चरण धोये और आसन दिया। किशोर अतिथिने निःसङ्कोच पूजा स्वीकार कर ली। तपस्वी उसके चरणोंके समीप नम्र भावसे बैठ गये।

'आपके आश्रमके मृग बहुत सुन्दर हैं!' अतिथि किशोरावस्थाके अनुरूप ही चपल था।

'परम सुन्दर प्रभुकी सृष्टिमें कुछ असुन्दर भी है, यह तो दुर्बल मन कल्पित करता है!' तपस्वीने गम्भीरता एवं नम्रतासे कहा।

'मैं आपको एक मृगचर्म दूँगा—कस्तूरीक मृगका चर्म। खूब सघन-सुकोमल रोमावली है!'

'आपका अनुग्रह!' तपस्वीने अतिथिको मृगचर्म निकालने नहीं दिया बगलसे। 'मैं केवल यज्ञके समय मृगचर्मको आसन बनाता हूँ और मेरे समीप पवित्र कृष्णमृगचर्म है! वेदिकापर तो कुश बिछाना ही पर्याप्त है!'

'ये सुन्दर पुष्प!' अतिथिमें अद्भुत चपलता थी। 'जान पड़ता है आप इनकी सुगन्धमें अनुराग नहीं रखते। आपकी जटाओंमें एक भी पुष्प नहीं। आप आज्ञा दें तो मैं यह खिला हुआ पाटल (गुलाब) आपकी जटामें लगा दूँ!'

'वायुदेव सभी प्राणियोंको सुगन्ध पहुँचाते हैं, मुझे उतने ही भागसे सन्तोष है!' तपस्वीने शान्तिसे कहा—'भगवान् अग्निदेवकी अर्चना हो चुकी है। मिट्टीके पुतलेके लिये पुष्पसज्जा व्यर्थ है। प्रभुको यह रुचिकर है तो उसे उन चरणोंपर ही चढ़ना चाहिये।!' तपस्वीने पाटलपुष्प चरणोंपर चढ़ा दिया।

'अग्निदेवके पूजनमें सदा यहाँ पुष्प मिल जाते हैं!'

'सदा ही मिलें—यह अनिवार्य नहीं; हृदयके भावोंके पुष्प इनसे सुन्दर होते हैं। देवताको भाव ही तो चाहिये। पदार्थ तो भावको उद्दीप्त करनेके लिये हैं!'

'आपके इस निर्झरके उस पार बड़ा सुन्दर वन है। वहाँ फूलोंके गुच्छोंसे लताएँ सभी ऋतुओंमें लदी रहती हैं। मधुर फलोंके वृक्ष हैं। दूधके समान उज्ज्वल मर्मर पत्थरोंका पर्वत है। आप वहाँ आश्रम बना लें। यहाँकी अपेक्षा वहाँ बहुत सुख-सुविधा रहेगी। मैं आपकी सहायता करूँगा।'

'यहाँ भी नीवार पर्याप्त मिल जाते हैं।' तपस्वीमें उत्सुकता नहीं थी। 'पूजनके लिये पुष्प भी हैं ही। भगवान्की सृष्टिमें ऐश्वर्यकी कोई सीमा नहीं; किंतु एक वानप्रस्थाश्रमीको जितना चाहिये, उतना मुझे प्राप्त है। अपेक्षाकृत उत्तम ढूँढ़ने जानेपर तो एक-से-एक उत्तम मिलते रहेंगे।'

'आपने मुझे पहचाना नहीं!' अतिथि खुलकर हँस पड़ा।

'देव! आप मेरे अतिथि हैं और अतिथि साक्षात् नारायणस्वरूप होते हैं।' तपस्वीके स्वर श्रद्धापूर्ण थे। 'इससे अधिक जाननेकी मुझे आवश्यकता ही क्या है!'

'मैं आपके संयम तथा तपसे प्रसन्न हूँ! स्वर्ग आपकी प्रतीक्षामें है।' अतिथि—नहीं, वहाँ तो रत्नाभरणभूषित, नीलमेघोंका मुकुट बनाये, सात रंगोंका धनुष तथा वज्र लिये स्वयं देवराज इन्द्र विराजमान थे। वायुमण्डलमें दिव्य सुगन्ध व्याप्त हो गयी। आकाशसे अद्भुत स्वरोंमें स्तुति हो रही थी। पास ही विद्युत्के चक्के तथा ज्योतिकी रश्मिसे युक्त, हरे रंगके सौ घोड़ोंसे जुता मेघरथ लिये मातलि प्रतीक्षा कर रहे थे। देवराजने संकेत किया था रथपर चलकर बैठनेका।

'देवराजके पदार्पणसे मैं कृतार्थ हुआ। मैंने अपने कठोर व्रतोंका फल प्राप्त कर लिया।' तपस्वीने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। 'मैं केवल सर्वेश्वरकी प्रसन्नताके लिये आराधना करता हूँ। अमरावतीको मैं अपने मनुष्य-शरीरके स्पर्शसे अपवित्र नहीं करूँगा। वहाँ तपोवन बनाया नहीं जा सकता और जबतक प्रारब्धने मुझे सुविधा दी है, भगवान् यज्ञपतिकी सेवाका सुख छोड़ना मुझे रुचिकर नहीं। आप मुझे क्षमा करें!' देवराजको आश्चर्य नहीं हुआ। इस भारतभूमिके मनुष्य अनेकों बार सशरीर स्वर्ग पधारनेकी उनकी प्रार्थनाको ठुकरा चुके हैं।

'आप किसकी अवहेलना कर रहे हैं?' देवराजके स्वर कुछ तीव्र हो गये थे। तपस्वीने देखा कि विकराल कृष्णवर्ण, हाथोंमें दण्ड एवं पाश लिये भैंसेपर बैठे यमराज देवेन्द्रके पास आ गये हैं।

'मैं सुरपतिका अपमान करनेकी बात भी नहीं सोच सकता।' तपस्वीके स्वरमें नम्रता थी, श्रद्धा थी; किंतु भयका लेश भी नहीं था। 'स्वेच्छासे अपना व्रत छोड़ना मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं जानता हूँ कि अमरलोकका ऐश्वर्य महान् है; किंतु वह सब अन्तरके आनन्दको प्रकट करनेका

उपकरण ही है। वह हृदयका आनन्द मैं यहाँ भी प्राप्त कर लेता हूँ और नरकमें भी प्राप्त कर लूँगा। क्योंकि प्रणवस्वरूप व्यापक प्रभु और भगवती वेदमाता गायत्री तो वहाँ भी हैं ही। स्वर्गकी अपेक्षा यमराजका लोक ही तपस्याके उपयुक्त है। वहाँ तपस्याके प्रचुर साधन हैं। धर्मराजकी इच्छा हो तो मैं बाधा नहीं दूँगा।' बात ठीक थी। तपस्वीकी इच्छाके विरुद्ध उनका स्पर्श करनेकी शक्ति यमराजमें थी ही नहीं।

'मैं तो केवल आपके पवित्र चरणोंमें प्रणाम करने आया हूँ!' धर्मराजने मस्तक झुकाया हाथ जोड़कर और वे अदृश्य हो गये। उनके नरकोंकी यन्त्रणामें एक तपस्वी तपकी भावना करने लगे तो चल चुका उनका विधान। उसका तपःतेज नरकको तपोलोक बना डालेगा। नारकीय जीवोंके अपकर्म उसके पास आते ही भस्म हो जायँगे।

'जिन अग्निकी तुम आराधना करते हो; वही तुम्हें दण्ड देंगे!' असफलताने देवराजको असन्तुष्ट कर दिया था। झल्लाकर उन्होंने कहा और अदृश्य हो गये। तापसने सुना—पक्षी आर्तक्रन्दन करते दूर नभमें उड़े जा रहे हैं। पशु चिल्लाते हुए चौंकने लगे हैं। दूर-दूर नभमें धूएँकी कुंडलियाँ घनी होती जा रही हैं।

'हम्मा!' आश्रमकी गौ पुकार उठी। उसने दोनों कान खड़े कर लिये थे और स्नेहपूर्वक तपस्वीको देख रही थी।

'मातः! आप पधारें।' तपस्वीने गौको प्रणाम किया गौने अपने बछड़ेकी ओर देखा। पूँछ उठाकर वह भागी। बछड़ा अपनी माताके साथ जा रहा था। वायुमें उष्णता आ गयी थी। धुआँ बादलोंकी भाँति छा रहा था। दूर आकाशमें लालिमाकी रेखा दिखायी देने लगी थी।

'मैंने सदा आपको विधिपूर्वक हवि, घृत एवं समिधाओं-की आहुति दी है!' तपस्वीने सम्मुख गुफामें हवन-कुण्डकी ओर देखा और फिर वेदीपर आसनसे स्थिर बैठ गया। 'देव! पधारो। आज इस शरीरकी आहुतिसे जीवन यज्ञपूर्ण हो!' नेत्र बंद हो गये।

तपस्वीको पता नहीं—लपटें बढ़ीं, चटचट-पटपटके भयङ्कर शब्द हुए, वृक्ष भस्म हो गये, वह शालतरु—टूट-टूटकर उसकी शाखाएँ गिरती रहीं, पर तपस्वी ध्यानस्थ था। वह पञ्चाग्नि तापनेका अभ्यासी—उसे उष्णताका बोध तक नहीं हुआ। अग्निदेवने अपने उपासकके एक रोमतक स्पर्श नहीं किया। अभ्यासवश जब सायंकालीन सन्ध्याके लिये नेत्र खुले—चारों ओर धुआँ भरा था। अङ्गार, छोटी लपटें, भस्म, जहाँतक दृष्टि जाय, सब झुलस चुका था। किसी प्रकार झरने तक मार्ग बनाकर उसने सन्ध्या की। अन्धकार होनेसे पूर्व ऐसी समिधाएँ एकत्र करनेमें लगा जो अग्निसे अछूती रही हों; क्योंकि अधजले काष्ठ तो अग्निदेवके जूठे हो चुके और अग्नि-रक्षा तथा नित्य कृत्यके लिये पवित्र समिधाएँ आवश्यक हैं।

'यहाँसे एक योजन दूरका वन अग्निसे बच गया है। वहाँ आपको कोई कष्ट न होगा। यहाँ तो आपकी सब सामग्री भस्म हो गयी और गौ भी कहीं भाग गयी!' समीपके भीलोंके ग्रामके लोग सबेरे ही तपस्वीकी खोज करने आ गये थे, उन्होंने उसे समझाना चाहा।

'मैं आजसे एक तप्तकृच्छ्र व्रत करूँगा। भगवान्ने कृपा करके व्रतका अवसर दिया है।' तपस्वीने उन्हें प्रेमपूर्वक बताया। 'झरनेके किनारे आकमें सूखी समिधाएँ सायंकाल देख आया हूँ। भगवान् अग्निदेवने कृपापूर्वक कन्दोंको स्वयं भून दिया है। मेरा व्रत समाप्त होनेतक वन शीतल हो जायगा, तब अपने आराध्यका प्रसाद लूँगा। दावाग्निके पश्चात् नियमतः वर्षा होगी ही और तब यहाँ पहलेसे अधिक हरियाली हो जायगी।' तपस्वीको न तो कोई अभाव ज्ञात हो रहा था, न असुविधा, फिर वह नये स्थानमें आश्रम बनानेका झमेला क्यों पाले।

'हम सब आपके लिये दूध, फल, कुश, पुष्प पहुँचा दिया करेंगे!' जंगलके सरल मनुष्य भड़कीले शब्द भले न कह पावें, पर उनके हृदयमें अपार श्रद्धा होती है।

'पूजाके लिये कुशादि मैं ले आऊँगा, वह मुझे स्वयं लाना चाहिये। अभी तो व्रत करना है, अतएव दूध-फल आवश्यक नहीं हैं। कोई अतिथि पधारें तो उनकी सेवाके लिये तुमलोगोंकी सामग्री लेनेमें संकोच नहीं करूँगा।' मध्याह्न-सन्ध्याका समय हो चुका था। ग्रामीणजन अपने आग्रहको इतना बढ़ाना नहीं जानते जो साधुके नियमोंमें बाधक बने।

× × × ×

'आपको ज्वर आता है, तीनों समय तो क्या एक समय भी आपको स्नान नहीं करना चाहिये।'

'भगवान् यज्ञपुरुष मेरी प्रतीक्षा करते हैं, मैं उनकी उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ!'

'शरीर पोंछकर अथवा मानसिक स्नानसे भी तो हवन करना सम्भव है ?'

'सम्भव तो सब है; किंतु भगवान्‌को साक्षात् मानकर टालटूल की कैसे जाय !'

'शरीर यह सब कबतक सहेगा ?'

'शरीर तो नश्वर है, वह तो नष्ट होगा ही। जो लोग सदा सावधान रहते हैं, उन्हें भी तो प्रारब्धके भोग भोगने ही पड़ते हैं। स्नान, वायुहीन स्थान, औषध-सेवन तो निमित्तमात्र हैं।'

'शरीरके प्रति भी तो कुछ कर्तव्य है ?'

'जी—आप कहना चाहते हैं कि परमात्माके प्रति जो कर्तव्य है, उससे वह बड़ा है ?'

'आप स्नानके विना काम चला लें और औषध लेना प्रारम्भ कर दें........!' बेचारा वैद्य और कहे भी क्या। नगरमें जड़ी-बूटी बेचनेवालोंने उसे समाचार दिया था और श्रद्धाके कारण वह इस वनमें आया था। यद्यपि नगरमें रोगीको ले जाकर चिकित्सा करनेमें अधिक सुविधा होती; परंतु वह देखते ही समझ गया था कि ऐसी बात कहना व्यर्थ होगा।

'आप निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि औषधसे रोग चला ही जायगा ?'

'मैं केवल आशा कर सकता हूँ—प्रबल आशा।' वैद्यमें साहस नहीं था यहाँ मिथ्या आश्वासन देनेका।

'आपसे अधिक आशा तो यह करनी चाहिये कि प्रारब्ध जबतक है, कोई औषध रोगको दूर न कर सकेगी और जैसे ही प्रारब्धका भोग पूर्ण हो जायगा, रोग बिना क्षणभरका विलम्ब किये स्वयं चला जायगा, जैसे दावाग्नि काष्ठके भस्म हो जानेपर शान्त हो गयी थी।' तपस्वीके मुखपर मन्द हास्य था। उसका शरीर तवे-सा तप रहा था; किंतु क्लेश या थकावटके चिह्नतक नहीं थे मुखपर।

'वानप्रस्थाश्रमकी अवस्थाको आप पार कर चुके, आत्मतत्त्वका ज्ञान भी आपकी बुद्धिमें स्थित है, अब आपको अग्निका न्यास करना चाहिये। मैं ब्राह्मण हूँ, संन्यासके संस्कार सम्पन्न करा दूँगा !' वैद्यजीने नीतिका आश्रय लिया था। यदि तपस्वी संन्यासी हो जाय तो फिर उन्हें चिकित्सामें विरोध नहीं रहेगा।

'यज्ञस्वरूप साक्षात् भगवान् नारायणको छोड़कर मनको किसी कल्पनामें कैसे लगाया जा सकता है ?' तपस्वीके दृगोंमें भाव भरा था। 'बुद्धिमें जो परमतत्त्व प्रस्फुरित होता है, जबतक मन उसमें डूब न जाय—न्यास कैसे हो सकता है ! मन जब उसमें निमग्न हो जाता है, यह बाहरी जगत् दिखायी नहीं पड़ता, यही सच्चा संन्यास है। यह संन्यास स्वयं होता है, किया नहीं जाता।'

'प्रबल वैराग्यके अनन्तर जब आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा हो जाय तब पञ्चाग्निको पञ्च प्राणोंमें न्यास करके संन्यास लेना चाहिये, शास्त्र तो यही कहते हैं।' वैद्यजी शास्त्रज्ञ होनेके कारण शङ्का कर रहे थे।

'शास्त्रोंकी व्यवस्था उचित है, पर यह रुचि तथा अधिकार-भेदकी बात है। रसानुभूतिके लिये पृथक्ता आवश्यक होती है। उस आनन्दघनकी सेवाकी मधुरिमाके लिये जिनके प्राण प्यासे हैं, वे कर्मोंका न्यास कैसे कर सकते हैं। उनका न्यास तो सम्पन्न होता है, किया नहीं जाता।'

'कब सम्पन्न होगा वह ?' स्वरमें निराशा थी।

'कौन कह सकता है।' तपस्वी भावविभोर हो उठे थे। 'पता नहीं कब प्रभुके चरणोंमें वह प्रगाढ़ प्रेम होगा जो अपनी सुधा-धारामें तन-मन-प्राणको डुबा देगा। उसकी आनन्द-मन्दाकिनीमें सब निमग्न हो जाते हैं। वहाँ न क्रिया रहती, न कर्ता। वे करुणासागर कृपा करें तो उनका वह दिव्य प्रेम प्राप्त हो। जीवकी अल्पशक्तिके बसकी बात नहीं। उन दयामयकी दयाकी प्रतीक्षा ही की जा सकती है।' नेत्रोंसे अश्रुधार प्रवाहित हो रही थी और आज प्रथम बार तपस्वी भूल रहे थे कि उनके नित्यकर्मका समय हो गया है। वैद्यको निराश लौटना पड़ा।

× × ×

ज्वरने पिण्ड नहीं छोड़ा। शरीर दुर्बल होता जा रहा था। नित्यकर्मोंमें बाधा नहीं पड़नी चाहिये। अग्निदेवकी आराधनामें विघ्न पड़े, यह सहन नहीं हो सकता। उन्होंने अनशन प्रारम्भ किया। जैसे योगी योगक्रियासे ही अपने रोगी शरीरको ठीक करता है, वैसे ही तपस्वीकी चिकित्सा तपस्या ही हो सकती थी।

'आज भगवान् यज्ञपुरुषको उपवास करना पड़ा।' एक तो वृद्ध शरीर, दूसरे पूरे पचीस दिन उपवास करते हो गये।

पिछले पाँच दिनोंसे जलतक नहीं लिया है। झरनेके जलमें स्नान करने आये थे, एक वृक्षके जड़की ठोकर लगी, लड़खड़ाकर गिरे और मूर्च्छित हो गये। मस्तकमें चोट लगी थी। कबतक मूर्च्छित रहे, उन्हें पता नहीं। नेत्र खुले, देखा तो सायंकाल समीप है। वे प्रातःस्नान करने आये थे। उन्हें लगा, दिनभर यहाँ वे पड़े रहे हैं। आज आहुति न दे सकनेके कारण चित्त खिन्न हो रहा था। उन्हें पता नहीं था कि आहुति तो यज्ञकुण्डमें चार दिनसे नहीं पड़ी है।

कोमल शरीरके शशक उनके शरीरसे सटे बैठे थे। वे भोले प्राणी अपने शरीरकी उष्णतासे उन्हें शीतसे बचानेके प्रयत्नमें थे। मृगोंका समूह कातर नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहा था। बंदरोंने पता नहीं कहाँ-कहाँसे लाकर सुन्दर पके फलोंकी ढेरी एकत्र कर दी थी और उनके मुखके समीप फल ला-लाकर कुछ अपनी भाषामें कह रहे थे। मस्तकके ऊपरकी डालपर मयूर पंख फैलाये बैठा था। उसने तपस्वीकी धूपसे रक्षाका प्रयत्न पूरा कर लिया था। नेवला अपनी अमृतमयी जिह्वासे मस्तकके घावको चाट-चाटकर स्वच्छ कर चुका था। जिसके हृदयमें विश्वरूप प्रभु विराजते हैं, विश्वके सभी प्राणी उसके स्वजन हो जाते हैं। आज तपस्वी अकेले नहीं थे। वनके समस्त प्राणी उन्हें अपने समझ चुके थे और सुख पहुँचानेके प्रयत्नमें थे। तपस्वीका ध्यान इधर गया ही नहीं। उन्हें सायंकालीन उपासनामें विलम्ब हो रहा था। वे उठे, शरीर साथ नहीं दे रहा था, पैर लड़खड़ा रहे थे, किसी प्रकार गुफातक जाना ही था। प्राणियोंने उसी प्रकार उनका अनुगमन किया, जैसे नरेशके पीछे उसके सेवक चलते हैं—शान्त, मूक, संयत।

'पुष्प इतने म्लान क्यों हो गये ?' तपस्वी स्नान करने जानेसे पूर्व केलेके पत्तेपर पुष्प-चयन करके सजा गये थे। अब तो वह पत्ता भी काला पड़ गया था। स्मरण हुआ कि गुफाके द्वारपर तोरणके पत्ते भी मुरझाये हुए हैं। 'मैं सम्भवतः कलसे मूर्च्छित था।' अभी वे समझ नहीं पाये थे कि उनका अनुमान मूर्च्छाके वास्तविक समयका आधा ही है।

'भगवान् अग्निदेवने कुण्डका परित्याग कर दिया।' धड़कते हृदयसे वे यज्ञकुण्डकी भस्मको उलट-पलट रहे थे। यज्ञोपवीतके पश्चात् आजतक आचार्यसे जो अग्नि प्राप्त हुए थे, वे अखण्ड जाग्रत् प्रज्वलित रक्खे गये थे। न तो प्राणोंमें आरोपित करके उनका न्यास हो सका और न शरीरकी आहुति ही उनमें दी जा सकी। अत्यन्त खेदसे तपस्वीके हाथ काँप रहे थे और लगता था—वे फिर मूर्च्छित होनेवाले हैं।

'दयामय, रक्षा की आपने !' जैसे कंगालको कुबेरका कोष मिल गया हो। भस्ममें एक नन्ही चिनगारी मिली और उन्हें कितना आह्लाद हुआ, कहा नहीं जा सकता। बड़े प्रयत्नसे उन्होंने उसे प्रज्वलित किया। हवन करते समय अशक्त होनेसे मन्त्र-ध्वनि पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो सकी।

'मेरा नित्यकर्म भंग हो चुका, पता नहीं भगवान् यज्ञनारायण कितने समयतक उपवासकी दशामें रहे हैं। यदि मैं अनशन करके प्राणत्याग करूँ तो बार-बार मूर्च्छित होऊँगा। बार-बार यह अपराध बनेगा।' तपस्वीको अपनी चिन्ता नहीं थी। 'मैंने एक, चार या आठ वर्षके स्थानमें पूरे बारह वर्षके वानप्रस्थ-धर्मके पालनका सङ्कल्प किया था। आज ही बारह वर्ष पूर्ण हुए हैं।' उन्हें लग रहा था कि यज्ञकुण्डमें उस चिनगारीके रूपमें अग्निदेव अबतक उनकी प्रतीक्षामें ही रुके थे। धीरे-धीरे वे उठे। गुफामें जितनी भी समिधाएँ थीं, क्रमशः हवनकुण्डके ऊपर सजा दीं। एक बड़ी-सी काष्ठराशि बन गयी। नीचे हवनकुण्डकी ज्वालासे वह प्रज्वलित हो उठी। तपस्वीने आचमन किया। अग्निका परिसमूहन किया और प्रोक्षण भी। तीन बार परिक्रमा करके भूमिमें लेटकर प्रणाम किया।

'भगवान् यज्ञपुरुष मेरे शरीरकी इस अन्तिम आहुतिसे सन्तुष्ट हों।' उस अग्निमें प्रवेश करनेका सङ्कल्प करते हुए उन्होंने भूमिसे मस्तक उठाया।

'यह क्या ?' वे मुग्ध-से देखते रह गये। उस ज्वालाके मध्यसे तप्तकाञ्चनवर्ण, चतुर्भुज, विद्युत्के समान वस्त्रधारी, रत्नमुकुटी, शङ्ख-चक्रधारी साक्षात् भगवान् नारायण यज्ञपुरुष शेष दोनों हाथ फैलाये उन्हें अपने अङ्कमें लेने उतर रहे हैं। 'प्रभो ! करुणाधाम !' उनका मस्तक फिर झुके, इससे पूर्व तो उन विशाल बाहुओंने उन्हें उठा लिया था और वे उन सर्वेशके श्रीवत्सलाञ्छित वक्षःस्थलसे लगा लिये गये थे !

कामके पत्र

(१)

पाप कामनासे होते हैं—प्रकृतिसे नहीं

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपने लिखा—"गीता अध्याय ९ श्लोक २७—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इस श्लोकके मुताबिक मैं मछली-मांस, ताड़ी-शराब, अपनी-स्त्री प्रसङ्गकी कृया (क्रिया) या परायी स्त्री-प्रसङ्गकी कृया (क्रिया), इतनी चीज यदि हमारी प्रकृति समय-समयपर ग्रहण कर रही है तो मैं ईश्वरको अर्पण कर सकता हूँ या नहीं । अगर आप कहें कि यह सब कर्म ही क्यों नहीं छोड़ देते, तो स्त्री छूट ही नहीं सकती । मछली-मांस, ताड़ी-दारू, परायी स्त्री-ग्रहण भी नीचे लिखे श्लोकोंके मुताबिक हो ही रहा है तो हमको क्या करना चाहिये ।'''श्लोक अध्याय ३ श्लोक ५—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥"

यहाँतक पत्रलेखक महोदयके अपने शब्द हैं ।

इसका उत्तर यह है कि श्रीभगवान्‌ने गीतामें यह बतलाया है कि मनुष्य क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

इसी प्रसङ्गमें यह कहा है कि 'सब लोग प्रकृति-जनित गुणोंके द्वारा परवश होकर कर्म करनेको बाध्य होते हैं ।'

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

इसका अभिप्राय यह है कि संसारका प्रादुर्भाव प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे होता है । सारा संसार गुणमय है और ये तीनों गुण प्रत्येक जीवमें न्यूनाधिक रूपमें रहते हैं । जबतक ये गुण विषम अवस्थामें हैं, तबतक संसार है और जबतक संसार है तबतक संसारका कोई भी प्राणी कर्म-रहित होकर नहीं रह सकता; उसे इन्द्रियोंके या मनके द्वारा किसी-न-किसी कर्ममें लगे रहना ही पड़ता है । अर्थात् बुद्धिका किसी विषयमें निर्णय एवं निश्चय करना, चितका चिन्तन करना, मनका मनन करना, कानका सुनना, त्वचाका स्पर्श करना, आँखका देखना, जीभका चखना, नासिकाका सूँघना, वाणीका शब्दोच्चारण करना, पैरोंका चलना, गुदा-उपस्थका मल-मूत्रादि त्याग करना और प्राणोंका श्वास लेना—आदि कार्योंमेंसे कोई-न-कोई होता ही रहता है । इसका यह अर्थ लगाना कि मनुष्य प्राकृतिक गुणोंके वशमें होकर मछली-मांस खाने, शराब-ताड़ी पीने और पर-स्त्री-गमन आदि पापोंमें लगनेको बाध्य होता है, सर्वथा अनर्थ करना है । पाप प्रकृतिकी प्रेरणासे नहीं होते । पापके होनेमें हेतु है—मनुष्यके अंदर रहनेवाली कामना । भगवान्‌ने गीताके इसी तीसरे अध्यायमें यह स्पष्ट कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(३ । ३७)

'रजोगुणरूप आसक्तिसे उत्पन्न काम ही (प्रतिहत होनेपर) क्रोध बन जाता है । यह काम बहुत खाने-वाला (भोगोंसे कभी न अघानेवाला) और बड़ा पापी है । इसीको तुम इस विषयमें (पाप बननेमें) वैरी समझो ।'

और अन्तमें भगवान्‌ने इस कामनापर विजय प्राप्त करनेके लिये आज्ञा दी है—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।

'हे महाबाहो ! इस कामरूप दुर्जय शत्रुको तुम मार डालो ।'

यदि मनुष्यको परवश होकर पाप करनेको बाध्य

होना पड़ता तो गीताका यह प्रसङ्ग निरर्थक होता। यही नहीं, विधि-निषेधात्मक समस्त शास्त्र ही व्यर्थ होते। गीतामें ही मनुष्यको कर्म करनेमें स्वतन्त्र बतलाया है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—यह भी व्यर्थ होता। पर बात ऐसी नहीं है। गीताके ऐसे वाक्योंका इस प्रकार अर्थ लगाकर अपने पापका समर्थन करना या तो भ्रमसे होता है, या जान-बूझकर गीतापर पाप करानेका दोष मँढ़कर दुहरा पाप किया जाता है। भगवान्‌ने गीतामें काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंको नरकका द्वार और आत्माका नाश करनेवाले—जीवको अधोगतिमें पहुँचानेवाले बतलाकर इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(१६ । २१)

मनुष्यमें यह सामर्थ्य है कि वह काम-क्रोध-लोभपर विजय प्राप्त करे, इनको मारे और इनसे होनेवाले पाप-कर्मोंको समूल नष्ट कर दे। वह यदि ऐसा न करके—इन्द्रियके वश होकर नाना प्रकारके पाप करता है, तो दण्डका पात्र होता है। मनुष्यको जो अपने जीवनमें भाँति-भाँतिके दुःखों-क्लेशोंका भोग करना पड़ता है, इसका प्रधान कारण उसके अपने किये हुए ये पाप ही हैं, जिन्हें वह चाहता तो छोड़ सकता था। अतएव आपका यह सर्वथा भ्रम है जो आप मांस-मछली, शराब-ताड़ीके खान-पान और व्यभिचारको परवश होकर किये जानेवाले कर्म मानते हैं और इनसे छूटनेमें अपनेको असमर्थ बताते हैं। ये पाप प्रकृति नहीं कराती। ये कराती है आपकी भोगासक्ति, और जो भोगासक्तिके वश होकर पाप करेगा, उसको उसका भयानक परिणाम भी अवश्य ही भोगना पड़ेगा!

यह आपका दूसरा महान् भ्रम है जो आप गीता (९ । २७) का हवाला देकर पापकर्मको ईश्वरके अर्पण करनेकी बात सोचते हैं। इस श्लोकमें हवन, दान और तपके अर्पण करनेकी बात कही गयी है, वह तो स्पष्ट ही शास्त्रीय और गीताकथित हवन, दान और तप आदि क्रियाओंके लिये है। 'तुम जो कुछ भी कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो'—('यत्करोषि' तथा 'यदश्नासि') इनमें भ्रम हो सकता है। परंतु गीतामें भगवान्‌की यह स्पष्ट घोषणा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६ । २४)

'तुम्हारे कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। यह जानकर तुम्हें वही कर्म करने चाहिये जिनका शास्त्रोंमें विधान है।'

अतएव वस्तुतः कर्म वे ही हैं जो शास्त्रनियत हैं, शेष तो विपरीत कर्म यानी निषिद्ध हैं। निषिद्ध कर्मोंको कभी भगवान्‌के अर्पण नहीं किया जा सकता। भोगासक्तिवश पापकर्म करना और उन्हें भगवान्‌के समर्पण करनेकी बात सोचना ही एक बड़ा पाप है।

अतएव आप इन दोनों ही भ्रमोंको तुरंत छोड़ दीजिये। याद रखिये कि न तो आप मछली-मांस खाने, शराब-ताड़ी पीने और व्यभिचार करनेके लिये परवश हैं और न किसी भी पापकर्मको कभी भगवान्‌के अर्पण ही किया जा सकता है। आपके जो मित्र या गुरु गीताका इस प्रकारका अर्थ करते हैं, उनसे भी सावधान रहना चाहिये।

(२)

भगवत्-सेवा ही मानव-सेवा है

सादर नमस्कार! पत्र मिला। मानव-सेवा निश्चय ही परम श्रेष्ठ साधन है; परंतु मानव-सेवा यथार्थरूपमें तभी होती है, जब प्रत्येक मानवको भगवान्‌का स्वरूप समझा जाता है। जगत्‌में जितने भी प्राणी हैं—सभी मानो श्रीभगवान्‌के शरीर हैं—विभिन्न अनन्त रूपों, आकृतियों, स्वभावों और परिस्थितियोंको स्वाँगके रूपमें

धारणकर एक भगवान् ही अनन्त विचित्र लीला कर रहे हैं। यह बात जब हमारी समझमें आ जाती है, तब हम सबको भगवान् मानते हुए, सबके प्रति राग-द्वेष-विहीन होकर सबका समान आदर करते हुए उनके स्वाँगके अनुरूप उनकी आवश्यकताओंको समझकर सब-की यथासाध्य और यथायोग्य सेवा करनेका प्रयास करते हैं। उस सेवामें स्वाँगके अनुसार भेद रहनेपर भी न तो आसक्ति होती है, न विद्वेष होता है। साथ ही स्वाभाविक ही यह भी भाव रहता है कि 'हम तो सेवामें केवल निमित्तमात्र हैं। सेवा करनेकी प्रेरणा, शक्ति और साधन सब प्रभुके ही यहाँसे आते हैं। प्रभु स्वयं अपनी ही वस्तुओंसे, आप ही प्रेरणा करके अपनी ही शक्तिसे अपनी सेवा करवाते हैं। इसमें न तो हमारा किसीके प्रति उपकार है, न हम किसीकी सेवा करते हैं, न किसीपर अहसान ही है।' जबतक इस प्रकार सर्वत्र भगवद्भाव नहीं होता और जबतक समस्त वस्तुओंपर, सारी शक्तियोंपर और समस्त प्रवृत्तियोंपर प्रभुका स्वामित्व नहीं जान लिया जाता, तबतक यथार्थ मानव-सेवा नहीं होती। कहीं अहङ्कार-अभिमानकी सेवा होती है तो कहीं कामना-वासनाकी!

सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌की सेवा ही मानव-सेवा है। समाज-सेवा, देश-सेवा, मानव-सेवा, विश्व-सेवा, लोकहित, लोकसंग्रह आदि शब्द मोह पैदा करनेवाले ही होते हैं यदि समाज, देश, मानव, विश्व और लोकमें भगवद्भाव नहीं होता। फिर कर्तव्यपालनके नामपर भी अभिमानकी सेवाका प्रमादपूर्ण कार्य होता है। प्रिय सेवककी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र-जी कहते हैं—

> सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

'चराचर समस्त जगत् श्रीभगवान्‌का स्वरूप है और मैं उसका सेवक हूँ।' जबतक यह भाव नहीं होता, तबतक हमारे द्वारा सेवाके नामपर किये जानेवाले कर्म राग-द्वेषमूलक होनेके कारण यथार्थ सेवा नहीं बन पाते, इसके विपरीत कई बार तो वे जगत्‌को हानि पहुँचाने-वाले हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
> (१८।४६)

'जिन भगवान्‌से समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिनसे यह सारा जगत् व्याप्त है, उनको अपने कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।' अभिप्राय यह कि मानो सम्पूर्ण विश्व-चराचरमें भगवान्‌को देखकर राग-द्वेषरहित हो परम आदरके साथ उनकी यथायोग्य सेवा की जाय, तब सबकी यथार्थ सेवा होती है, या केवल भगवान्‌की ही सेवामें—उन्हींके भजनमें संलग्न रहा जाय तब सबकी यथार्थ सेवा होती है। दोनों ही प्रकारोंमें प्रधान दृष्टि रहती है—भगवान्‌की ओर। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीके वचन हैं—

> यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
> एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥
> (८।५।४९)

'जैसे वृक्षकी जड़में जल सींचनेसे उसके स्कन्ध-शाखाओंमें अपने-आप ही जल सींचा जाता है वैसे ही सर्वात्मा भगवान्‌की आराधना करनेसे सबकी और अपनी भी आराधना हो जाती है।'

भगवान् ही समस्त विश्वके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं, वे ही सबके मूल हैं, आधार हैं, आत्मा हैं। अतः उन सर्वकारण-कारण सर्वात्मा भगवान्‌की सेवासे अपने-आप ही सबकी सेवा हो जाती है। जगत्‌की सेवाका प्रयत्न हो और भगवान्‌को न माना जाय या उनका विरोध किया जाय तो वह ऐसा ही होता है जैसे पेड़की डाल-पत्तियोंको सींचना और उसके मूलमें कुठाराघात करना! इससे विश्व-वृक्ष नहीं पनप सकता। यह उसकी सेवा नहीं, वरं संहार ही है।

जो मनुष्य भगवान्‌का आराधन नहीं करते, न उनका विरोध ही करते हैं और यथासाध्य सचाईके साथ लोकसेवा करना चाहते हैं, उनके द्वारा भी कुछ लाभ होता है; परंतु वह भी होता है भगवान्‌से ही। जैसे कोई मनुष्य वृक्षकी जड़को न तो काटता है, न उसमें विष विखेरता है और न जलसे सींचता ही है; परंतु डाल-पत्तोंपर पानी उँडेला करता है। यद्यपि यह उसका अज्ञान है तथापि डाली-पत्तोंसे बहकर जितना पानी जड़में पहुँचता है, उतनेसे वृक्षको रस पहुँच जाता है; परंतु वह रस मिलता है जड़के द्वारा ही। वैसे ही भगवान् 'सर्वलोकमहेश्वर' और 'समस्त यज्ञतपोंके भोक्ता' हैं। किसीके नामपर भी जो कुछ भी सेवा-पूजा होती है, सब उन्हींको पहुँचती है और वहींसे उसके फलका भी विधान होता है। अतएव यदि केवल भगवान्‌का भजन हो तो उससे विश्वकी महान् सेवा स्वयमेव हो जाती है।

योगेश्वर कविने कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, समस्त प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र—सब श्रीभगवान्‌के शरीर हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी प्राणी उसके सामने आता है, उसीको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है।'

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस प्रकार प्राणीमात्रमें भगवद्भाव होना चाहिये, फिर उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह सेवा ही होती है और वही सच्ची विश्व-सेवा है।

इसलिये मेरी रायमें आपको मानव-सेवाके मोहक नामके पीछे पागल न होकर भगवत्सेवाके द्वारा ही मानव-सेवा करनेका अभ्यास करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि आप अपनी जीवनचर्यामें किसीके दुःखमें उपेक्षा करें और समर्थ होनेपर भी सेवा न करें। आपके पास तन-मन-धन जो कुछ है, सबको श्रीभगवान्‌का समझकर जहाँ जैसी आवश्यकता हो भगवत्स्मरण करते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ वहाँ उसे लोक-सेवामें अवश्य लगावें—सहज स्वाभाविकरूपसे। भगवान्‌की चीज भगवान्‌के काममें आवे और आपको उसमें निमित्त बननेका सौभाग्य मिले, यह तो आपका सौभाग्य है।

(३)

अपराधीकी वैध सहायता करना धर्म है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। आपने लिखा कि 'एक कैदी (जिसको उसके कुकर्मोंके फलस्वरूप दण्ड मिला है) के प्रति सहानुभूति प्रकट करना या उसकी किसी प्रकारकी सहायता करना जैसे पापमें सहायक होना और गवर्नमेंटका अपराध करना है, उसी प्रकार ईश्वरीय न्यायालयमें दण्डित दीन-अपाहिजोंकी सहायता करना ईश्वरीय व्यवस्थाका उल्लङ्घन है, जो कि ईश्वरका एक अपराध ही है। यदि ऐसा ही है तो धर्मशास्त्रोंमें इसके विपरीत उपदेश क्यों है ?'

इसका उत्तर यह है कि किसी अपराधके लिये दण्डित मनुष्यके प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करना या उसकी वैध रीतिसे सहायता करना कानूनकी दृष्टिमें अपराध नहीं है। अपराध तो उसके अपराधमें सहायता करनेमें है। किसीके साथ भी उसके दुःखमें सहानुभूति करना या सहायता पहुँचाना कहीं भी अपराध नहीं हो सकता। न्यायालयसे जो दण्ड दिया जाता है, उसमें भी उसके प्रति द्वेष या वैर नहीं है, वह पुनः वैसा अपराध न करे अर्थात् वह भावी दुःखसे बच जाय, इसी उद्देश्यसे दण्ड-विधानकी रचना हुई है। कारावासमें पड़े हुए कैदियोंके लिये भी नाना प्रकारसे सहायताके आयोजन होते हैं और उनमें बाहरके लोगोंसे

भी सहायता माँगी तथा ली जाती है। असलमें घृणा पापसे होनी चाहिये, पापीसे नहीं। इसलिये अपराध भी पापमें सहायता करनेसे होता है, न कि पापीकी सहायता करनेसे। कैदीको क्या खाने-पहननेको नहीं दिया जाता या क्या बीमारीमें उसका इलाज नहीं करवाया जाता है? बल्कि कैदमें भी उसके प्रति किसी-के द्वारा यदि दुर्व्यवहार होता है तो न्यायतः दुर्व्यवहार करनेवाला अपराधी माना जाता है। न्याय न हो और यथेच्छाचार हो, वहाँकी बात दूसरी है।

दुःखमें सहानुभूति और सहायता सदा ही धर्म है। यही लौकिक न्याय है और यही ईश्वरीय न्याय है। हाँ, न्यायपूर्ण विधानको माननेकी आवश्यकता सभी जगह है। अतः कैदीकी सहायता भी विधानके अनुकूल ही करनी चाहिये, और दीन-अपाहिजकी सहायता भी शास्त्र-विधानके अनुसार ही।

कोई दीन-अपाहिज यदि अभक्ष्य-भक्षण करना चाहे, किसीके साथ वैर-विरोध करनेको कहे, किसी निर्दोषको सतानेके लिये कहे तो इन कार्योंमें उसकी सहायता नहीं करनी चाहिये। धर्मशास्त्रोंमें जो दीन-दुखियोंकी सहायता करनेका आदेश है वह तो बहुत ही सुन्दर है। उससे ईश्वरीय न्यायमें बाधा नहीं पड़ती वरं उसमें सहायता मिलती है। भयानक दुःख और कष्टमें जिसकी सहायता होती है, वही सहायताके मूल्यको भी जान सकता है, जैसे अन्नके महत्त्वको अत्यन्त भूखा मनुष्य ही जानता है। जिसको खाते-खाते अजीर्ण हो गया है, उसे अन्नके महत्त्वका क्या पता। और जो जिस वस्तुके महत्त्वको जानता है, वह उस वस्तुको प्राप्त भी करना चाहता है। दीन-दुखी सहायता पाकर यह चाहेंगे कि हम भी कभी किसीकी सहायता करें। इससे उनके हृदय शुद्ध होंगे और पाप-बुद्धिका नाश होगा। एवं वे यदि पाप नहीं करेंगे तो भविष्यमें पापके परिणामरूप दुःखोंसे बच जायँगे। साथ ही, ईश्वर भी सहायता करनेवालोंसे प्रसन्न होंगे। अपराधी हो या निरपराधी, माके लिये सभी बच्चे समान प्रिय होते हैं; बल्कि दुःखमें पड़े हुएके प्रति माताकी विशेष सहानुभूति होती है। ऐसी अवस्थामें उस दुखी बच्चेकी जो सहायता करता है, वह उसकी माताके विशेष स्नेह तथा आशीर्वादका पात्र होता है। इसी प्रकार भगवान् भी, जो उनकी दुखी सन्तानोंपर दया करके उनके साथ सहानुभूति तथा उनकी सहायता करते हैं, उनपर बड़े प्रसन्न होते हैं। इसलिये दीन-दुखियोंकी सहायता-सेवामें मनुष्यको बड़े उल्लासके साथ सदा प्रस्तुत रहना चाहिये। और ऐसा करते यदि कोई विपत्ति आवे तो उसे भगवान्‌का कृपा-प्रसाद समझकर सानन्द सहन करना चाहिये।

(४)

भगवान्‌के आश्रयसे सब दोष नष्ट हो जाते हैं

सादर हरिस्मरण। कृपापत्र मिला, आपने बहुत अच्छी बात पूछी है। ब्रह्माजीने श्रीभगवान्‌से कहा था कि 'प्रभो! जबतक यह मनुष्य आपके अभय प्रदान करनेवाले चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभीतक उसको धन, घर, सुहृद्-बन्धुओंके निमित्तसे होनेवाले भय, शोक, स्पृहा, पराभव और बड़ा भारी लोभ आदि दोष सताते हैं और तभीतक उसको दुःखके मूल मैं तथा मेरेपनका असत् आग्रह रहता है'—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

(श्रीमद्भा० ३।९।६)

आप अपनेको जिन सब मानस-शत्रुओंसे घिरा देखते हैं, वे सब शत्रु तुरंत भग जायँगे, यदि आप श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका आश्रय ले लेंगे। असलमें हमारा ममत्व, जो लौकिक सम्बन्धियोंमें हो रहा है,

वही हमें सता रहा है । यदि हम प्रयत्न करके अपने इस सम्बन्धको सबसे तोड़कर एकमात्र प्रभुमें जोड़ सकें और सबके साथ प्रभुके सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रक्खें तो फिर हमें कोई नहीं सता सकता एवं ऐसा करनेमें किसीके साथ व्यावहारिक सम्बन्ध तोड़नेकी भी आवश्यकता नहीं होती । जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके सम्बन्धसे ही पतिके माता, पिता, बन्धु, मित्र, अतिथि, अभ्यागत आदिके साथ यथायोग्य व्यवहार करती है, वैसे ही भगवान्‌के सम्बन्धसे हम भी सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करें; पर मनसे ममत्व रहे केवल प्रभुचरणोंमें ही ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भक्त विभीषणजीसे बड़ी सुन्दर बात कही है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

× × ×

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

अपने ममताके कच्चे सूतके धागोंको, जो इधर-उधर सर्वत्र अटके हुए हैं, सबसे तोड़कर (सारे ममत्वको) एकत्र कर लें और फिर उन सबको बटकर—(ममत्वको एकनिष्ठ करके) एक मजबूत रस्सी बना लें एवं उसके द्वारा अपने मनको श्रीभगवान्‌के चरणोंसे बाँध दें तो भगवान्‌के इतने प्रिय हो जायँ कि फिर भगवान् हमको अपने हृदयमें वैसे ही स्थान दे दें, जैसे लोभी धनको बसाये रखता है । भगवान्‌ने अपनेको बाँधनेका कैसा सुन्दर उपाय बता दिया है । ममता नहीं छूटती तो मत छोड़ो, उसे इधर-उधर बिखेरकर जो दुःख पा रहे हो, कभी इधर खिंचते हो, कभी उधर, फिर तनिक-से स्वार्थका धक्का लगते ही ममताके कच्चे धागे टूट भी जाते हैं—इस नित्यकी अशान्तिसे अपनेको छुड़ा लो । इतना करो कि उन धागोंको सबसे हटा लो । बस, सुखी हो जाओगे । और फिर इस बटोरी हुई ममताको केवल भगवच्चरणोंमें जोड़ दो । यह मान लो कि एकमात्र भगवच्चरणारविन्द ही मेरे हैं, उनके अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है । इस प्रकार अपने मनके साथ भगवान्‌के चरणोंको ममताकी मजबूत रस्सीसे बाँध दो । फिर न तो कच्चा धागा है जो जरा-सी स्वार्थकी ठेससे टूट जायगा और न तो लौकिक पदार्थोंकी भाँति भगवच्चरण ही विनाशी हैं, जो कभी नष्ट हो जायँगे । पक्की दृढ़ ममत्वकी डोरी और अचल, अटल नित्य भगवच्चरण । जहाँ एक बार बँधे कि फिर कभी छूटनेके नहीं । फिर तो भगवान् वशमें ही हो जायँगे और बाध्य होंगे हमको अपने हृदयमें स्थान देनेके लिये । ऐसे ही एकममतानिष्ठ भक्तोंके लिये भगवान्‌ने सुदर्शनचक्रसे डरे हुए दुर्वासा मुनिसे कहा था—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

× × × ×

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३—६६, ६८)

'ब्राह्मणदेवता ! मैं भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है । मेरे साधुस्वभावके भक्तोंने मेरे हृदयको अपने वशमें कर रक्खा है, वे भक्तगण मुझसे प्रेम करते हैं और मैं उनसे करता हूँ । हे ब्रह्मन् ! जिन भक्तोंका एकमात्र मैं ही परम आश्रय हूँ, उन साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर न तो मैं अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहिता लक्ष्मीजीको ही । जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबका (ममत्व) त्याग करके

एकमात्र मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें त्याग करनेकी कल्पना भी भला मैं कैसे करूँ। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रतसे सत्-स्वभाव पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्त अपनी भक्तिके द्वारा मुझको अपने वशमें कर लेते हैं। मेरे वे साधु भक्त मेरे हृदय हैं और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और कुछ भी नहीं जानते तो मैं उनके सिवा और कुछ भी नहीं जानता।'

भगवान्के एकान्त आश्रयकी बात कठिन अवश्य माॡम होती है; परंतु समझमें आ जानेपर वस्तुतः बड़ी आसान है। नया कुछ भी करना नहीं पड़ता। केवल ममताके विषयको मनसे बदल देना पड़ता है। आपने इस विषयपर बड़ा विचार भी किया है। फिर क्यों देर करते हैं।

अब रही मेरी बात, सो मैं तो सचमुच फँस रहा हूँ 'पर-उपदेश कुशल'की बात आपको लिखता हूँ, पर स्वयं कुछ भी नहीं करता। हाँ, यह विश्वास अवश्य है कि मुझ दीन-हीनपर भी दीनबन्धुकी कृपा तो अनन्त-अपार है ही। अपने लिये क्या लिखूँ—

श्रीगोसाईंजीके शब्दोंमें—

सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है।
है तुलसी परतीति एक प्रभुमूरति कृपामई है॥

पर सच पूछिये तो जैसी मेरी धारणा है, उसके अनुसार मुखने भी नामकी ओट नहीं ले रक्खी है और प्रभुकी कृपामयी मूर्तिपर विश्वास है ऐसा प्रतीत होनेपर भी, वह विश्वास किस स्तरका है, इसका भी ठीक पता नहीं है। कभी-कभी ऐसा मन होता है कि अब जीवनकी समाप्तिके दिन समीप आते जा रहे हैं, अतः ये सब दिन तो केवल प्रभुके चिन्तनमें ही बीतें, पर ऐसा हो नहीं पाता। इसमें भी मेरी आसक्ति ही कारण है। प्रभुकी क्या इच्छा है, यह तो वही जानें। कभी-कभी यह भी मन होता है कि उनकी मङ्गलमयी इच्छापर ही अपनेको छोड़ दूँ, पर पता नहीं क्यों, ऐसा भी नहीं हो पाता। शायद कोई छिपा अभिमान इसमें बाधक हो। जो कुछ भी हो, अच्छा-बुरा हूँ तो उनका ही।

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥
राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥

मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव-भीर॥

(५)

ईश्वर-भजन या देश-सेवा

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। मेरी समझसे जो 'मनुष्य केवल ईश्वर-भजन करता है या करनेकी कोशिश करता है और सत्यके आधारपर जीविकाका उपार्जन करता हुआ अपने गृहस्थका पालन करता है', वह कम देश-सेवा नहीं करता। देश-सेवाका अर्थ बैज लगाकर घूमना या व्याख्यान देना नहीं है। मनुष्यके समुदायका नाम समाज है और समाजकी समष्टि ही राष्ट्र या देश है। यदि एक भी मनुष्य भजनपरायण और सत्यपर आरूढ़ है तो इसका यह अर्थ है कि देशका एक अङ्ग सुधर गया है। इतना ही नहीं, उसके आदर्शके प्रभावसे बहुत लोगोंके सुधरनेकी आशा है। आपने लिखा कि 'देश-सेवासे भजनमें कुछ-न-कुछ बाधा पड़ जाती है और सत्य तथा अक्रोधमें भी बाधा पड़ती है।' इसका उत्तर यह है कि जिस देश-सेवासे सत्य और अक्रोध मिटता हो एवं असत्य तथा क्रोधको स्थान मिलता हो, वह देश-सेवा कैसी है? जो अपने आचरणसे देशवासियोंके सम्मुख सत्य और क्षमाका आदर्श उपस्थित करता है, वही तो सच्चा देशसेवक है। और भजनमें बाधा पड़नेवाली बात तो और भी विशेष विचारणीय है। जिनके लिये प्रत्येक कर्म ही भगवत्सेवा बन गया हो, जो अपने सहज कर्मसे सदा भगवान्की सेवा ही करते हों, उनकी बात दूसरी है। नहीं तो, भजन छूटे—

भगवान्‌से चित्त हटे, ऐसा अच्छे-से-अच्छा कर्म भी वस्तुतः त्याज्य ही है।

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ॥

मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य ही भगवान्‌की या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति है और वह होती है भजनसे। इसलिये भजन ही मानवका प्रधान धर्म है। इस धर्मके सामने अन्य सभी धर्म तुच्छ हैं।

(६)

त्याग-तपस्या ही धर्म है

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। उन बहिन-का यह कथन सर्वथा उचित है कि 'उपदेश करना सहज है; परंतु पालन करना कठिन है। सभी स्त्रियाँ पतिव्रता बनना और कहलाना पसंद करती हैं; पर पतिव्रताकी व्याख्या क्या है ? सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि पतिव्रताकी श्रेणीकी स्त्रियोंसे पूछा जाय कि हमारी स्थितिमें तुम कैसे इस व्रतको रखतीं······।' इसके पश्चात् उन बहिनकी आपने जो परिस्थिति लिखी, वह भी अवश्य विचारणीय है। उनका त्याग, तप, धर्म-पालन, सेवा, संयम सभी सराहनीय है और हिंदू-देवीके सर्वथा योग्य है। हिंदू-स्त्री त्याग और बलिदानकी जीवित प्रतिमा है। स्वार्थी पुरुषोंके साथ उसकी तुलना करना तो उसे उसके गौरवयुक्त पदसे नीचे उतारना है। उक्त बहिन 'पतिके घर और बच्चोंके साथ अपने कर्तव्यका पालन भरसक करती हैं, परंतु तब दुखी हो जाती हैं, जब वह उन व्यक्तियोंसे अवहेलना पाती हैं, जिनके ऊपर उसने अपने पतिके सुखोंको निछावर कर दिया।' सो ऐसी परिस्थितिमें उनको दुःख होना भी अस्वाभाविक नहीं है। त्यागमूर्ति हिंदू-देवियोंके साथ जो लोग दुर्व्यवहार करते हैं, वे बहुत बड़ा अपराध करते हैं और इसका कुफल उनको तथा समाजको भी भोगना पड़ेगा। परंतु हिंदू-देवी तो अपना धर्म देखती है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त उसका प्रत्येक क्षण त्यागके लिये ही है, वह यही करती है और इसीमें उसका गौरव है। अनादि-कालसे अबतक उसने बड़े-बड़े कष्टोंका सामना करके अपने इस क्षुरधारा-व्रतको निभाया है। उन बहिनको भी अपने इसी पवित्र व्रतकी ओर देखना चाहिये।

मेरी उन बहिनके साथ हार्दिक सहानुभूति है और मैं चाहता हूँ कि उनको शान्ति प्राप्त हो। यह सत्य है कि उनकी मनोव्यथा कितनी और कैसी है, मैं उसका सच्चा अनुमान भी नहीं कर सकता। इस हालतमें मैं जो कुछ कहूँगा सो उनके कथनानुसार वस्तुतः परिस्थिति-के ज्ञानसे रहित केवल परोपदेशमात्र ही होगा। यथार्थ उत्तर तो कोई तपोमूर्ति अनुभूतिसम्पन्न देवी ही दे सकती हैं तथापि जब आपने पूछा है, तब मैं संक्षेपमें अपने विचार निवेदन करता हूँ। श्रीसीताजी, सावित्री और दमयन्ती क्या कहतीं—इसका उत्तर तो वे ही दे सकती हैं; पर पातिव्रतकी व्याख्या तो है—'केवल त्याग और तपस्याकी साधना और इसके साधनमें गौरवकी अनुभूति।' इस साधनामें क्लेश तो भारी-से-भारी आ सकते हैं; परंतु मानसिक दुःख नहीं होता। यह कल्पना या भावना नहीं है, आज भी हजारों-लाखों हिंदू-देवियोंका त्यागमय सन्तोषयुक्त जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। स्त्री हो या पुरुष, मानव-शरीरका लक्ष्य है—'भगवत्प्राप्ति'। कायिक भोग तो अवस्थानुसार प्रत्येक योनिमें ही प्राप्त होते हैं। पुरुषके लिये भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन हैं; पर स्त्रीके लिये तो पातिव्रत ही एक प्रधान साधन है। भगवान्‌की किस प्रकार सर्वार्पण-बुद्धिसे तथा निष्काम प्रेमसे सेवा-भक्ति करनी चाहिये, इसका जीता-जागता आदर्श हिंदू-स्त्रीका पातिव्रतधर्म है। इसीलिये हिंदू-स्त्री अपने पतिको परमेश्वर मानकर सदा सर्वात्मना उसकी सेवा करती है। और इसी भजनके द्वारा वह परमात्माकार-वृत्ति लाभ करके अन्तमें भगवान्‌को पा लेती है। पुरुष यदि स्वार्थ-वश अपनेको परमेश्वर कहकर स्त्रीसे पुजवाना चाहता है

तो वह बड़ी भूल करता है; परंतु स्त्रीका उसको परमेश्वर मानकर अनन्य भावसे उसका सेवन करना तो उसकी भगवत्प्राप्तिकी पवित्र साधना है। इसी तत्त्वको समझकर उन बहिनको इस साधनामें तत्पर रहना चाहिये और परमेश्वरके मङ्गलविधानसे उनके लिये जैसा जो कुछ बन गया है, उसके लिये तनिक भी पश्चात्ताप न करके अपनी परिस्थितिसे लाभ उठाना चाहिये।

वे जिन सज्जनसे पवित्र निःस्वार्थभावसे मिलती हैं, सो यदि भाव पवित्र रहे तो कोई बुरी बात नहीं है, परंतु यदि कहीं कोई छिपी वासना हो तो कभी इसका परिणाम दूसरे प्रकारका भी हो सकता है। वासना होनेपर, अब भी गहराईसे देखा जाय तो किसी एक अज्ञात विलक्षण आकर्षणके रूपमें उसका पता लग सकता है। पता न भी लगे तब भी वासनाका होना सम्भव है। बहुत बार छिपी वासनाएँ धर्म, कर्तव्य और पवित्र प्रेमका बाना पहनकर प्रकट होती हैं तथा इन पवित्र नामोंपर मनुष्यको गिरानेका मीठा प्रयत्न किया करती हैं। इसलिये सावधान रहना चाहिये और जहाँतक बने, अपने मनको भगवान्‌की मङ्गलमयी लीला-कथाओंके स्मरण-चिन्तनमें लगाना चाहिये। यों भगवान्‌के नाते प्रेम तो प्राणीमात्रके साथ करना चाहिये और जो अपने हितैषी हों, अपने साथ सहानुभूति रखते हों, उनके प्रति तो प्रेम होना स्वाभाविक ही है। पर देखना यही है कि उस प्रेममें कहीं कोई आसक्ति तो नहीं है। अवश्य ही उसे ढूँढ़नेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये और ऐसा मान लेना ही चाहिये कि कहीं-न-कहीं मेरे मनमें आसक्ति है, जो मुझे भगवत्प्राप्तिकी साधनासे हटा सकती है। आसक्तिके ढूँढ़नेके प्रयत्नमें या उनको भुलानेकी चेष्टामें तो सम्भव है, उनका चिन्तन और भी बढ़ जाय। प्रायः ऐसा हुआ करता है। अतएव ऐसा न करके जीवनका प्रधान लक्ष्य समझकर श्रीभगवान्‌में ही चित्त लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। भगवत्-चरित्रोंके पठन, गीताके अभ्यास और भगवन्नामके जापसे इसमें बड़ी सहायता मिल सकती है। जीवनभर दुःखका भार सहनेपर भी यदि भगवान्‌में मन लग गया तो जीवनको सार्थक समझना चाहिये।

इन पंक्तियोंसे उन बहिनको यदि कोई रास्ता मिला तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

(७)

विपत्ति-नाशका उपाय

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने अपने पतिकी जो स्थिति लिखी, वह शोचनीय है। मोहग्रस्त मनुष्य इसी प्रकार अधर्मको धर्म बतलाया करते हैं और उसमें साथ न देनेवालोंको कोसा करते हैं। उनकी यह स्थिति दयनीय है! उनपर जो मलिन वासनाका भूत सवार है, उसने उनके विवेकको हर लिया है। इस अवस्थामें आपको दुःख होना स्वाभाविक ही है; परंतु मेरी समझसे आपकी साधनासे यह रोग मिट सकता है। आप लिखती हैं 'मेरा कोई भी नहीं है' सो ऐसी बात नहीं है। आप निश्चय मानिये—'भगवान् आपके हैं' और जो यह अनुभव करता है कि जगत्‌में मेरा कोई नहीं है, उसके तो भगवान् अवश्य ही अपने हो जाते हैं। आप इस बातपर विश्वास कीजिये। और मन-ही-मन उन्हें सारी स्थिति समझाकर उनसे प्रार्थना कीजिये—अपने स्वामीकी बुद्धि शुद्ध करके उन्हें सत्पथपर लानेके लिये। आपकी सच्ची कातर प्रार्थनाका फल अवश्य होगा। भगवान् सुनेंगे और आपके मार्गभ्रष्ट स्वामी सन्मार्गपर अवश्य आ जायँगे। समय हो तो श्रीरामचरितमानसका नवाह्न या कम समय हो तो मासिक पारायण कीजिये कहींसे गीताप्रेसमें छपी कोई रामायणकी प्रति खरीद लीजिये, उसमें नवाह्न और मासिक पारायणके दैनिक विश्राम-स्थल आपको मिल जायँगे। प्रतिदिन यह दृढ़ भावना कीजिये कि भगवान् मेरी प्रार्थना सुन रहे हैं और उनकी कृपासे मेरे स्वामीकी बुद्धि ठीक हो रही है।

साथ ही अपने पतिकी बातोंका उनके मुखपर कभी खण्डन न करके उनकी यथासाध्य तन-मनसे विशेष सेवा कीजिये। इससे भी उनपर प्रभाव पड़ेगा जो उनको सन्मार्गपर लानेमें बहुत सहायक होगा। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे,
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।'

—इस सोलह नामोंके मन्त्रकी कम-से-कम एक माला (१०८) जप विश्वासपूर्वक अवश्य कीजिये। देखिये चार-छः महीनोंमें क्या परिणाम होता है।

रक्तसङ्करसे बचाव ही वर्ण-जातिसङ्करताको हानिकर ही सिद्ध करता है

(लेखक—श्रीअङ्गारजी)

'जानबुल' नामक पत्रमें डाक्टर हार्वे ग्रेहेमका एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने रेक्सहेमके एडवर्ड जोंसकी एक सद्योजात कन्याके सम्बन्धमें लिखा है कि 'उसके शरीरसे सारा रक्त निकाल (खींच) और दूसरेका रक्त भरकर किस तरह उसे जिलाया। जोंस और उसकी स्त्री मार्गरेट दोनों ही सशक्त, नीरोग और एक दूसरेके अनुरूप दिखायी पड़ते हैं। किंतु इस आभासिक समताके भीतर उनके रक्तों-की विषमता छिपी हुई है। उस दम्पतिके होनेवाले बच्चे गर्भमें ही मर जाते थे। कभी असमयमें ही गर्भ-पात हो जाता या कभी बच्चा जनमा भी, तो दस दिनोंके भीतर ही मर जाता था। कारणके जाँच करने-पर दीख पड़ा कि माताकी रक्तपेशियाँ बच्चोंकी लाल रक्त-पेशीको नष्ट कर डालती थीं। पति-पत्नीका रक्त यदि परस्पर अनुकूल न हुआ तो मा-बाप भले ही ऊपरसे नीरोग, स्वस्थ प्रतीत हों, फिर भी उनके सन्तान पैदा नहीं होंगी या होकर मर जायँगी।

डाक्टर लेडस्टीन और डाक्टर अलेक्जेंडरने इस रक्तका विशेष अभ्यास किया है। बंदरके रक्तको चूहे-के शरीरमें प्रविष्टकर उसकी क्या और कैसी प्रतिक्रिया होती है, यह उन्होंने प्रयोग करके देखा है। इस तरह अनेक प्रयोग करनेपर उन्हें विभिन्न रक्तोंमें भिन्न-भिन्न जातियाँ दिखायी पड़ीं। पहले उनकी भी यही धारणा थी कि रक्तमें केवल चार ही वर्ण होते हैं, किंतु अब वे छत्तीस तक पहुँच गये हैं। उन्होंने कौन रक्त परस्परको अनुकूल और कौन प्रतिकूल है, इसकी भी सूची बना ली है। उन्होंने एक शास्त्र भी बनाया, जो माता-पिता और सन्तानकी रक्त-परीक्षाके बाद यह निश्चित करता है कि 'इसका पिता कौन है?' कई प्रगतिशील देशोंकी अदालतोंने भी इस शास्त्रके अनुसार होनेवाले निर्णयको मान्यता प्रदान की है। उनका मत है कि गोरे अंगरेज, चीनी, निग्रो आदिके रक्त एक दूसरेसे भिन्न हैं। उनमें होनेवाले विशिष्ट सङ्घोंका अनुपात भी उन्होंने भिन्न-भिन्न सिद्ध किया है। उस लड़कीके विषयमें भी विरुद्ध (प्रतिकूल) रक्तको निकाल उसमें अनुकूल रक्त सञ्चारित कर देनेसे वह जी उठी। अमेरिकन अदालतका एक ताजा निर्णय है कि उसने एक गोरे अंगरेजको इसलिये पाँच वर्षकी सजा दी कि उसने अष्टमांशसे भी अधिक निग्रो रक्तवाली एक महिलाके साथ विवाह किया था।

इस तरह अमेरिकन वैज्ञानिकोंका रक्तसङ्करसे बचाव क्या वर्ण-जाति-साङ्कर्यसे भी उनकी घृणा सिद्ध नहीं करता, जिसे कार्यान्वित करनेमें हम भारतीय आज प्रगतिशीलताका अनुभव करते हैं! (सिद्धान्त)

होलीका आध्यात्मिक महत्त्व

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी गौड़ एम्० ए०, बी० टी०, विज्ञानरत्न)

भारतीय त्यौहार अनेकों विशेषताओंके संग्रह हैं। वे अपनी धार्मिक कायामें विज्ञान तथा स्वास्थ्यप्रद सिद्धान्तोंको अपनाये हुए हैं। वे मानव-जातिकी मानसिक अवस्थाओंके सामयिक चिह्न हैं। वे उन्हें अध्यात्ममार्गपर अग्रसर करनेके लिये वार्षिक चेतावनी हैं। वे ऋतु-परिवर्तनके सूचक हैं। होलीका त्यौहार भी इसी प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न है। उसके महत्त्वका प्रतिपादन करना ही हमारे लेखका हेतु है।

सामयिक महत्त्व होलीकी विशेषता है। वह शरद्-ऋतुकी बिदा है और ग्रीष्मका स्वागत। वह वसन्तके उल्लासकी सर्वोत्कृष्ट श्रेणी है। भारतीय कृषिकी सफलतामें उसके कृषकोंके अमृतसे परिपूर्ण आनन्दकी अपूर्व छटा है। उसके हृदयसागरकी प्रसन्नतारूपी हिलोर है। खेतीकी हरीतिमा तथा श्रेष्ठ अन्नकी प्राप्तिमें कृषकके हृदयकी वह फुलझड़ी है, उसके आनन्दका मतवालापन है, दीवानापन है। वह ईश्वरीय दयाकी अपूर्व कृतज्ञता है। वह भारतके भावी सुकालकी घोषणा है।

होली भारतीयताकी झनकार है। वह आत्मपरिचयका संकेत है। वह संसारको राखके समान निःसार घोषित करनेका भारतीय निर्णय है। वह अग्निके रूपमें मानव-संसारके लिये इन्धनवत् अपने दुर्गुणोंको नष्ट करनेका आदेश है। उसकी सच्चिदानन्दकी अविरल प्रतिज्ञा है। वह बीजरूपमें मानव-संसारको यह बता रही है कि संसार दुःखसे परिपूर्ण है। मनुष्य बीजके समान आवागमनके चक्करमें पड़कर अनन्त दुःखका भागी होता है। बीज एक बार भुन जानेपर फिर नहीं उगता। अतएव होली भारतवासियोंको यह आदेश कर रही है कि प्रत्येक भारतवासीका यह कर्तव्य है कि वह ज्ञानानलमें अपने शरीरभावको नष्ट कर दे। वह व्यक्तिगत सुखकी खोजसे मुँह मोड़कर समाज तथा राष्ट्रगत सुखकी व्यवस्थामें अनन्त दुःखोंको सहर्ष अपनानेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करे। प्रत्येक जातिमें, प्रत्येक मनुष्यमें अपने ही ईश्वरका दर्शन करे। उनकी तृप्तिको अपना सुख समझे। उनके दुःखको अपना दुःख माने। उनके कष्टको अपना ही कष्ट माने। होली स्वार्थ-साधनकी संक्षिप्त सीमा है। वह विश्वकल्याणके रूपमें सनातनधर्मकी जननी है और त्याग उसकी आत्मा।

होली सामाजिक सुधारमें अपना निरालापन लिये हुए है। इस शरीरकी सुन्दरता श्मशानकी राखके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिस प्रकार होलीकी लकड़ियाँ जलकर राख हो जाती हैं उसी प्रकार मानव-संसारका पाशविक बल, उसके अत्याचार तथा उसके द्वारा निर्मित हत्याकाण्डोंकी गति अनिश्चित है, क्षणभङ्गुर है, स्वप्नवत् विनाशी है। रावण-जैसे अत्याचारी तथा बलवान् शासकको कालकी करालताके समक्ष नतमस्तक होना पड़ा। सिकंदर-जैसे दिग्विजयी सम्राट्की धूल सदाके लिये लुप्त हो गयी। औरंगजेबकी कट्टरता आज धूलके कणोंमें मिलकर वायुके झकोरोंके साथ तृणवत् उड़ती फिरती है। अतः होली मानव-समाजकी अपूर्णताकी झनकार है। वह समस्त संसारको संचालन करनेवाली शक्तिकी कीर्ति-पताका है। वह मानव-संसारकी तृणवत् शक्तिके लिये वायुका प्रबल झोंका है। वह उसकी स्वार्थपूर्ण ममताके लिये कुठाराघात है। उसके त्यागकी वृत्ति है।

वह प्रेमका संदेश है। वह वर्षभरके राग-द्वेष तथा शत्रुताका अन्त है। वह भूतकालकी विस्मृति है। वर्तमान तथा भविष्यत्कालकी वह प्रेमपूर्ण लालिमा है, जिसके दर्शनसे मनुष्य लाल हो जाता है। मनुष्य इस लालीको अबीर और गुलालद्वारा प्रकट करता है और समस्त संसारको लाल बनानेमें मतवाला हो जाता है। यही होलीकी लाल लपटोंका संदेश है। होली व्यक्तिगत पराधीनता तथा दोषोंका अन्त है। वह मानवता तथा ईश्वरीय वृत्तियोंका संचार है। वह देवत्वका अवतार है। वह संसारका कल्याण है। वह सच्चे मानव-हृदयकी सृष्टि है। वह वैभव, ऐश्वर्य, सांसारिक संपत्ति तथा क्षणिक द्वन्द्वोंका विनाश है।

'होली' शब्द अर्थमें बड़ा ही अनूठा है। 'हो ली, हो ली, हो चुकी, आगेकी सुधि लेय' उसका चमत्कारपूर्ण संकेत है। वह बड़े-से-बड़े पापीको ईश्वरकी ओर आकर्षित करनेवाला सच्चा प्रोत्साहन है। उसकी दानवताको विलीन करके मानवताको प्रदान करनेवाली महान् शक्ति है। वह दीनबन्धुकी दयाका अपार सागर है। वह पतितपावनद्वारा की हुई पतितोद्धारकी दृढ़ प्रतिज्ञा है। कर्तव्यपथपर आरूढ़ नवयुवकोंको लपटोंके द्वारा असीमित साहसका प्रोत्साहन है।

होली शक्तिका संचार है। ग्रीष्मऋतुरूपी अत्याचारियोंकी भयङ्कर कृतियोंका पूर्वचिह्न है। उनसे लोहा

लेनेका अपूर्व संकेत है। संसारमें बलवानोंका आदर है। वह धन, ऐश्वर्य, स्वाद, सांसारिक सम्मान तथा अपने-परायेके आधारपर उत्पन्न होनेवाले मोहकी तुच्छता है। वह ईश्वरीय वस्तुओंका अपार मूल्य है। इन वस्तुओंमें दूध विशेष स्थान रखता है। यही कारण है कि गोबरद्वारा बने हुए बड़गुलोंकी संख्यासे गोधनका अनुमान किया जाता था। गोधन ही भारतकी आदर्श संपत्ति थी। और होली गोधनको सम्मान देनेवाला त्यौहार। अतः होली गोपालनका ईश्वरीय आदेश है। वह भारतीय गोपालनका व्यक्तिगत कर्तव्य है। उसका विनाश हमारा विनाश है। उसकी रक्षा हमारी रक्षा है।

होलीमें ऐतिहासिक वैचित्र्य है। वह प्रह्लादके रूपमें ईश्वरीय तत्त्वकी ज्वलन्त अग्निशिखा है। वह 'होलिका' के मिस सांसारिकताकी पराजय है। होलीके मतवालेपनमें सद्वृत्तियोंकी विजयकी मादकता है। उसमें प्रेमकी तन्मयता है। होली रूठे हुओंको मनानेकी अनोखी कला है। वह उजड़े हुए हृदयोंमें सरसताका संचार है। वह मृत हृदयोंको जीवन प्रदान करनेवाली शक्ति है। वह भग्न हृदयोंको जोड़नेवाला सीमेंट है। वह दूर-दूर रहनेवाले हृदयोंको आकर्षित करनेवाला चुम्बक है। वह उन्हें शुद्ध करनेवाला पारस पत्थर है। वह मोह तथा अश्लीलतासे सर्वथा परे है। वह गुप्त व्यभिचार तथा इन्द्रियलोलुपतासे नितान्त भिन्न है। वह शुद्ध देवत्वकी अपूर्व घोषणा है।

होली भारतीयोंकी भारतीयता है। उनके प्रेमकी देवी है। वह भारतीयोंके लिये जीवनकी धारा है। वह त्याग तथा बलिदानकी अपूर्व वेदी है। वह शक्तिका संचार है। वह गोपालनका भारतीय व्यक्तिगत कर्तव्य है। वह भारतीय हृदयोंमें धधकती हुई होलीके फफोलोंकी उपयुक्त मरहम है। वह भारतीयोंका सर्वस्व है, उनका प्राण है। उनकी अपूर्व संपत्ति है। उनके गौरवकी पताका है और उनके गुरुत्वका अमिट चिह्न है।

पाप मेरे

(रचयिता—श्रीव्रजलालजी वर्मा एम० ए०)

नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!

सोचता था मैं तुझे यों खेलहीमें जीत लूँगा;
और जीवनमें न तुझसे फिर कभी भयभीत हूँगा;
किंतु तूने कर दिया अभियान क्यों इतने सवेरे ?
नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!

वासनाओंसे रहा आपूर्ण यह भण्डार मेरा;
शान्त बेला थी कि तूने आ अचानक आज घेरा;
हँस, खुले हँस, इस पराजितपर अरे अभिशाप मेरे।
नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!

ज्ञानकी शुभ वर्तिका ले दम्भका दीपक जलाया;
जल सकी वह वर्तिका जबतक, निरा यश-कीर्ति पाया;
बुझ गई, तब आज कर अठखेलियाँ संताप मेरे।
नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!

हो गई यद्यपि पराजय पर न वह स्वीकार मुझको;
पाप, छल, पाखण्ड इसका मिलेगा प्रतिकार तुझको;
हार मानूँगा न, जबतक साथ पश्चात्ताप मेरे।
नाच ले जी भर अरे ओ पाप मेरे !!

श्रीरामचरितमानसका तापस-प्रसङ्ग

(ले०—श्रीज्ञानवतीजी त्रिवेदी)

'श्रीरामचरितमानस' का तापस-प्रसङ्ग बहुत दिनोंसे विद्वानोंमें विवादका विषय बना हुआ है। सभी लोग उस तपस्वीका परिचय प्राप्त करनेका प्रयत्न करते तथा उसे अनेक रूपोंमें देखते रहे हैं। इस तापस-प्रकरणमें उलझनकी अनेक बातें हैं, जिनका सन्तोषप्रद समाधान न मिलनेके कारण कतिपय विद्वानोंने इसको प्रक्षिप्ततक ठहरा दिया है। इनमेंसे मुख्यका उल्लेख श्रीविजयानन्द-जी त्रिपाठीने स्वसम्पादित 'श्रीरामचरितमानस' में इस प्रकार किया है—

(१) तीरवासियोंकी बातचीतमें अकस्मात् तापस-का आ पड़ना, ग्रन्थ-कर्ताका अपनी परिपाटीके विरुद्ध उस वार्ताको अधूरी छोड़कर तापसका मिलन वर्णन करने लगना, तत्पश्चात् उसकी विदाई बिना किये ही उक्त वार्ताका शेष अंश कहने लगना।

(२) तापसको श्रीसीताजीका आशीर्वाद देना।

(३) उसकी विदाई कहीं भी न कहना और रामायणभरमें उसका उल्लेख फिर कहीं न आना—ये सभी बातें असमञ्जस हैं।

(४) अयोध्याकाण्डभरमें यह नियम है कि २४ दोहेके बाद पचीसवें दोहेके स्थानपर एक छन्द और एक सोरठा रहता है। यह क्रम इन चार चौपाइयों और एक दोहेके बढ़ जानेसे बिगड़ जाता है और छब्बीसवें दोहेके स्थानपर छन्द और सोरठा आ पड़ते हैं।

(५) बाबू रामदासजी गौड़के मतसे यह प्रसङ्ग ५१०० चौपाइयोंके बाहर जा पड़ता है।

उपर्युक्त कारणोंमेंसे अन्तिम दोका परिहार तो सरलतापूर्वक हो जाता है। शेष तीनका निराकरण भी अनेक तर्कोंद्वारा किया ही जाता है; परंतु सच पूछिये तो बात यह है कि अभीतक अपने ढंगका यह एक ही प्रकरण लोगोंकी दृष्टिमें आया है। यदि उनकी रचनाओं-में उनको अन्यत्र भी कहीं ऐसे ही प्रकरण दिखलायी देते तो कदाचित् इस प्रसङ्गको लेकर इतनी ऊहापोह न होती। प्रतीत होता है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी-की रचनाओंमें इस कोटिका अन्य प्रसङ्ग खोजनेका प्रयत्न भी अभीतक नहीं किया गया है।

अस्तु, हमारा कहना है कि सामान्य रूपसे किसी प्रसङ्गका वर्णन करते-करते किसी एक व्यक्तिका विशेषरूपसे वर्णन करनेकी यह प्रवृत्ति गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीमें अन्यत्र भी देखी जा सकती है। इतना ही नहीं, कई अवसरोंपर एक विशेष व्यक्तिका उल्लेख भी मिलता है और जो मिलता है सदा भगवान् श्रीरामके ही सम्बन्धमें। अतः श्रीतुलसीदासजीकी इस प्रवृत्तिका निरीक्षण करनेके लिये सर्वप्रथम 'पुष्प-वाटिकाप्रसङ्ग' को लेना चाहिये।

धनुष-यज्ञके एक दिन पूर्व माताकी आज्ञासे श्रीसीता-जी सभी सखियोंके साथ गिरिजा-पूजनके लिये जा रही हैं। गिरिजाकी पूजा समाप्त होती है कि—

एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥

—का प्रसङ्ग सामने आता है।

शङ्का होती है कि आजका अवसर ऐसा तो नहीं कि कोई सखी इसी समय श्रीसीताजीका साथ छोड़कर फुलवाड़ी देखने चली जाय।

समाधानके लिये तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि कथानककी दृष्टिसे यह योजना की गयी है। राज-कुमारोंका पता इसी सखीके जानेसे तो मिलता है। यदि श्रीतुलसीदासजी पूजनके उपरान्त सभीको उसी मार्गसे ले जाते तो सबको एक साथ भगवान् श्रीरामके दर्शन तो अवश्य हो जाते, परंतु सखियोंको

मनोहर हास-परिहासके लिये अवसर कहाँ मिलता और श्रीसीताजीकी प्रीति पुरातन तथा पूर्व-रागकी मनोरम झाँकी कैसे प्राप्त होती ?

ठीक है, किंतु इस सखीमें कुछ और विशेषता भी तो दिखायी देती है। भगवान् श्रीरामके दर्शन सभी सखियाँ करती हैं और लता-भवनसे प्रकट होते ही—

देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान।

इस प्रकार उस अलौकिक रूपको देखकर उन्हें कुछ कालके लिये शरीरकी सुध-बुध भी नहीं रह जाती; किंतु इन्हीं राजकुमारोंके दर्शनके उपरान्त उस सखीकी जो मनोदशा होती है, वह इन सबसे विलक्षण है—

तेहिं दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिबस सीता पहिं आई॥
तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नैन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥
देखन बागु कुअँर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यहाँ यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि यह 'प्रेम-बिबसता' और असीम हर्षकी दशा अन्य सखियोंमें नहीं है। वे अलौकिक रूप-लावण्यको देखकर देखती ही रह जाती हैं और इसके हृदयमें प्रेमका सञ्चार होता और अपार हर्ष छा जाता है।

एक बात और है। श्रीसीताजी इसी सखीको आगे करके चलती हैं और यह राजकुमारोंके समीप सभीको पहुँचा देती है; परंतु श्रीतुलसीदासजी इस सखीको यहीं छोड़ देते हैं। आगे चलकर सामान्यरूपसे सभी सखियोंका उल्लेख हम बराबर पाते हैं; किंतु इस विशेषके सम्बन्धमें कवि हमें फिर कुछ भी नहीं बतलाते।

अस्तु, इस मण्डलीको यहीं छोड़िये और देखिये यह कि जब इन दोनों राजकुमारोंके साथ राजदुलारी श्रीसीताजी भी मिल जाती हैं और तीनों पथिकोंके रूपमें चलते हैं, तब इनका 'सब भाँति मनोहर मोहन रूप' ग्राम-वधुओंपर कैसी मोहनी डालता है। इस प्रसङ्गको पहले 'कवितावली' में देखना ठीक होगा। कारण यह कि यद्यपि 'कवितावली' मुक्तक रचना है, तथापि इस प्रसङ्गका वर्णन वहाँ क्रमबद्ध मिलता है। उसके पहले ही छन्दका दृश्य है। कोई सखी कह रही है—

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच,
बिलोकहु, री सखि! मोहि-सी ह्वै।
मग जोगु न कोमल, क्यों चलिहै
सकुचाति मही पदपंकज छ्वै॥

इसका परिणाम यह होता है—

तुलसी सुनि ग्रामबधू बिथकीं,
पुलकीं तन, औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहनरूप
अनूप हैं भूपके बालक द्वै॥

इस प्रसङ्गमें हम देखते यही हैं कि यद्यपि आगे चलकर सखियाँ एक दूसरेको सम्बोधन कर परस्पर वार्तालाप करती हैं, तथापि 'साँवरे-गोरे' पथिकोंको देखनेका अनुरोध करती हुई एक विशेष सखी ही लक्षित होती है, जो अनुरोध भी यही करती है—

'बिलोकहु, री सखि ! मोहि-सी ह्वै।'

सब उसके आदेशानुसार देखती हैं और अन्ततः लालसा ऐसी प्रबल हो उठती है कि उनके चले जानेपर भी—

धरि धीर कहैं, चलु, देखिअ जाइ,
जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं।
कहिहै जगु पोच, न सोचु कछू,
फलु लोचन आपन तौ लहिहैं॥
सुखु पाइहैं कान सुनें बतियाँ
कल, आपुसमें कछु पै कहिहैं।
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं,
पुलकीं लखि रामु हिये महिं हैं॥

कौन कह सकता है कि इनके इस असीम आनन्दका श्रेय उस सखीको नहीं है जिसने 'बिलोकहु, री सखि! मोहि-सी ह्वै' का अनुरोध किया था ?

इन्हें इसी 'अति-प्रेम' की दशामें मग्न रहने दें और

देखें यह कि 'गीतावली' में ग्राम-वधुओंकी क्या स्थिति है । सो यहाँ भी कोई एक सखी किसी दूसरीसे कहने लगती है—

तू देखि देखि री ! पथिक परम सुंदर दोऊ ।
मरकत-कलधौत-बरन, काम-कोटि-कांतिहरन,
चरन-कमल कोमल अति, राजकुँवर कोऊ ॥
कर सर-धनु, कटि निषंग, मुनिपट सोहैं सुभग अंग,
संग चंद्रबदनि बधू, सुंदरि सुठि सोऊ ।
तापस बर बेष किए सोभा सब लूटि लिए,
चितके चोर, बय किसोर, लोचन भरि जोऊ ॥
दिनकर-कुलमनि निहारि प्रेम-मगन ग्राम-नारि,
परसपर कहैं, सखि अनुराग ताग पोऊ ॥

इन सभीमें जो हमें सबसे अधिक आकृष्ट करती है उसका कथन है—

कुँवर साँवरो, री सजनी ! सुंदर सब अंग ।
रोम रोम छबि निहारि आलि वारि-फेरि डारि,
कोटि भानु-सुवन सरद-सोम, कोटि अनंग ॥
बाम अंग लसत चाप, मौलि मंजु जटा-कलाप,
सुचि सर कर, मुनिपट कटि-तट कसे निषंग ।
आयत उर-बाहु-नैन, मुख-सुखमाको लहै न,
उपमा अवलोकि लोक, गिरामति-गति भंग ॥

और इस पथिककी यह छवि देखकर—

यों कहि भईं मगन बाल, बिथकीं सुनि जुवति-जाल,
चितवत चले जात संग मधुप-मृग-बिहंग ।
बरनौं किमि तिनकी दसहि, निगम-अगम प्रेम-रसहि,
तुलसी मन-बसन रँगे रुचिर रूपरंग ॥

इसके आधारपर हम इतना तो कह ही सकते हैं कि इस प्रसङ्गमें भी किसी एकपर गोस्वामीजीकी विशेष दृष्टि है । यहाँतक कि वह आह्लादके साथ कहने लगती है—

देखु, कोऊ परमसुंदर सखि ! बटोही ।
चलत महि मृदु चरन अरुन-बारिज-बरन,
भूपसुत रूपनिधि निरखि हौं मोही ॥
अमल मरकत स्याम, सील-सुखमा-धाम,
गौरतनु सुभग सोभा सुमुखि जोही ।
जुगल बिच नारि सुकुमारि सुठि सुंदरी,
इंदिरा इंदु-हरि मध्य जनु सोही ॥

करनि बर धनु तीर, रुचिर कटि तूनीर,
धीर, सुर-सुखद, मरदन अवनि-द्रोही ।
अंबुजायत नयन, बदन-छबि बहु मयन,
चारु चितवनि चतुर लेति चित पोही ॥

उसके इस आग्रहका प्रभाव सखियोंपर क्या होता है यह तो प्रकट नहीं हो पाता, किंतु श्रीरामके कानोंमें यह वाणी पड़ते ही—

बचन प्रिय सुनि श्रवन राम करुनाभवन,
चितए सब अधिक हित सहित कछु ओही ।

और श्रीरामकी इस हित-चितवनके फलस्वरूप—

दास तुलसी नेह-बिबस बिसरी देह,
जान नहिं आपु तेहि काल धौं को ही ॥

और अगले पदमें इसीका परिचय श्रीतुलसीदासजी इस प्रकार देते हैं—

सखि ! नीके कै निरखि, कोऊ सुठि सुंदर बटोही ।
मधुर मूरति मदनमोहन जोहन-जोग,
बदन सोभासदन देखि हौं मोही ॥
साँवरे-गोरे किसोर, सुर-मुनि-चित्त-चोर,
उभय-अंतर एक नारि सोही ।
मनहु बारिद-बिधु बीच ललित अति,
राजति तड़ित निज सहज बिछोही ॥
उर धीरजहि धरि, जनम सफल करि,
सुनहि सुमुखि ! जनि बिकल होही ।
को जानै, कौने सुकृत लह्यौ है लोचन-लाहु,
ताहि तें बारहि बार कहत तोही ॥
सखिहिं सुसिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओही ।
तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी,
कौन जानै कहाँतें आई, कौनकी, को ही ॥

इस सखीका जो परिचय प्राप्त होता है वह यही न कि न जाने यह किसकी, कौन है और कहाँसे आयी है । इस अवसरपर हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बहुत कुछ ऐसा ही परिचय हमारे चिर-परिचित 'रामचरितमानस' के तापसका भी है । तो भी अभी देखना हमें यह रह गया कि इस अवस्थामें इस सखीको प्राप्त क्या होता है ?

माई ! मनके मोहन जोहन-जोग जोही।
थोरी ही बयस गोरे-साँवरे सलोने लोने,
लोयन ललित, बिधुबदन बटोही ॥
सिरनि जटा-मुकुट मंजुल सुमनजुत,
तैसिये लसित नव पल्लव खोही।
किये मुनि बेष-बीर धरे धनु-तून-तीर,
सोहैं मग, को हैं, लखि परै न मोही ॥
सोभाको साँचो सँवारि रूप जातरूप,
ढारि नारि बिरची बिरंचि संग सोही।
राजत रुचिर तनु सुंदर श्रमके कन,
चाहे चकचौंधी लागै कहौं का तोही ?
सनेह-सिथिल सुनि बचन सकल सिया,
चितई अधिक हित सहित ओही।
तुलसी मनहु प्रभु-कृपाकी मूरति फिरि,
हेरि कै हरषि हिये लियो है पोही ॥

पहले रामकी 'अधिक हित सहित' चितवन उसपर पड़ चुकी है । अब श्रीसीताजी भी उसकी ओर 'अधिक हित सहित' देखती हैं । सच कहें तो श्रीसीताजीकी यह स्नेह-दृष्टि भगवान् श्रीरामकी कृपा-दृष्टि ही है । श्रीसीताजीका उसकी ओर स्नेहसे देखना क्या है, भगवान् श्रीरामकी कृपाका ही हर्षसे उल्लसित हो उसे अपने हृदयमें स्थान दे देना है । बस, सखीको प्रेमका प्रसाद प्राप्त हो गया । इस प्रसादको प्राप्तकर उसकी जो दशा हुई, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है । श्रीगोस्वामीजी इसे भी उसी दशामें छोड़ देते हैं । इसके उपरान्त वह किस प्रकार विदा हुई, किस ओर गयी अथवा उसका क्या हुआ इससे हम अनभिज्ञ ही रह जाते हैं । आगे चलकर हमें सभी सखियाँ पथिकोंके रूपपर मुग्ध होती हुई और परस्पर वार्तालाप करती हुई मिलती हैं और समीपर समान रूपसे कृपा करते हुए भगवान् श्रीरामके दर्शन भी प्राप्त होते हैं; परंतु फिर कभी यह एक सखी किसी रूपमें हमारे सामने प्रकट नहीं होती । कारण क्या है ?

हाँ, ठीक यही दशा 'मानस' में एक तापसकी भी है । इनमेंसे हमें परिचय किसीका भी नहीं मिलता है । इसकी 'विदाई' भी बहुत कुछ उस तापसकी भाँति ही है अर्थात् विदा होनेका कोई उल्लेख ही नहीं है । तापस जिस दशामें स्थित रह जाता है, वह है—

पिअत नयन पुट रूप पियूषा ।
मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा ॥

और सखीकी स्थिति है—

तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी

तापसको प्राप्त यह होता है कि श्रीराम उसे हृदयसे लगा लेते हैं और श्रीसीताजी भी आशीर्वाद देती हैं, परंतु 'सखी' को श्रीरामकी 'अधिक हित सहित चितवन' ही प्राप्त होती है और श्रीसीताजीकी प्रेमदृष्टिके रूपमें श्रीरामकी कृपा भी; किंतु इस विभेदपर विचार करते हुए भूलिये नहीं कि एक पुरुष है तो दूसरी स्त्री । अतएव निष्कर्ष यह निकला कि 'एक सखी'का यह प्रसङ्ग भी वास्तवमें 'एक तापस' प्रसङ्गकी ही कोटिका है, और इस प्रसङ्गसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगोस्वामीजीने उक्त प्रसङ्गकी योजना किसी विशेष दृष्टिसे ही की है । अतः उसको क्षेपक मानना ठीक नहीं ।

मधुर स्मृति

(१)

प्रभातकी सुमधुर वेलामें वंशीकी तान सुन, मैं अपनेको सँभाल नहीं पाती। मेरे हृदयके तार एक साथ झनझना उठते हैं; और उस झङ्कारमें झङ्कृत हो उठती है, तेरी सोई हुई मधुर स्मृति ।

(२)

दूर, बहुत दूर तक फैले हुए मकईके खेत; और ऊपर—बहुत ऊपर विस्तृत नील गगन—अनन्तका एक सगुण चित्र! यह विराट्रूप देख मेरे शरीरके बन्धन शिथिल हो गये, और मैं तब अनन्तमें घुलमिल गयी। उस खो जानेहीमें पहले-पहल मैं अपनेको खोज पायी । —शान्ति गुई

संस्कृति और धर्मका घातक हिंदू-कोड-बिल

'हिंदू-कोड-बिल'से 'कल्याण'के पाठक परिचित हैं। देशके महान् गण्यमान्य आचार्यों, विद्वानों, न्यायाधीशों, न्याय-व्यवसायियों, विशिष्ट महिलाओं और लाखों-करोड़ों हिंदू नर-नारियोंके विरोध करनेपर भी कानून-मन्त्री डा० अम्बेदकर महोदयने बिलको कानूनका रूप देनेके लिये धारा-सभामें उपस्थित कर दिया है ! सच्ची बात तो यह है कि इन धारासभाओंको वस्तुतः किसी भी धार्मिक बिषयपर कानून बनानेका अधिकार ही नहीं है; क्योंकि इनमें मतदाता और मत-गृहीता किसीके लिये भी धार्मिक ज्ञान रखना आवश्यक नहीं है और जब धार्मिक ज्ञान ही नहीं है, तब धर्मके सम्बन्धमें विचार करनेका अधिकार कैसे हो सकता है ? दूसरे, इसी धारासभामें 'मूलभूत सिद्धान्त'के रूपमें यह स्वीकृत हो चुका है कि 'किसीके भी धर्ममें हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।' हिंदुओंका विवाह-संस्कार पवित्रतम धार्मिक अनुष्ठान है, इस बातको अस्वीकार करना तो सत्यको मिथ्या बतलानेके समान दुराग्रहमात्र है। तीसरे, जब 'धर्म निरपेक्ष (सेक्यूलर) राज्य' है तब किसी एक धर्मके सम्बन्धमें कानून बनाने जाना सरासर अन्याय है। ये बातें तो उस धारासभाके लिये भी लागू होंगी जो 'बालिग-मताधिकार'के अनुसार देशभरके बहुमतसे बनेगी, फिर इस धारासंभाको तो निम्नलिखित हेतुओंसे हिंदुओंके धार्मिक आचरणोंमें आमूल परिवर्तन करके हिंदूसमाजको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले कानून बनानेका अधिकार है ही नहीं—

(क) इस धारासभाका निर्माण सीधे मतदाताओंके मतोंसे नहीं हुआ।

(ख) इसका निर्माण प्रान्तीय धारासभाओंके द्वारा हुआ था जो ब्रिटिश राज्यमें बनी हुई थी।

(ग) उन प्रान्तीय धारासभाओंका निर्माण भी अत्यन्त अल्प—लगभग १२ प्रतिशत (चालीस करोड़में केवल साढ़े तीन करोड़) मतदाताओंके द्वारा हुआ था। इन बारह प्रतिशतमेंसे मुसल्मानोंके मत निकाल दिये जायँ तो प्रतिशत बहुत ही कम हो जाता है।

(घ) यह धारासभा केवल 'विधान-निर्माण' के लिये बनी थी। इसीसे इसको केवल 'कामचलाऊ' (Caretaker) सरकार बतलाया गया था।

इसके अतिरिक्त देशका बहुमत सर्वथा इस बिलके प्रतिकूल है। इस बातको स्वयं डा० अम्बेदकर स्वीकार कर चुके हैं। ऐसी अवस्थामें जनतन्त्रके सिद्धान्तको माननेवाली सरकारके लिये बलात्कारसे ऐसा कानून बनाने जाना बहुसंख्यक हिंदूराष्ट्रके प्रति स्पष्ट अन्याय है। अब भी चारों ओरसे घोर विरोध हो रहा है। धारा-सभाके सदस्य भी इसका विरोध कर रहे हैं। उस दिन धारा-सभामें धारासभाके सदस्य श्रीलक्ष्मीकान्त मैत्रेय महोदयने सरकारके इस कार्यका बड़ी युक्तियोंके साथ विरोध किया था। कांग्रेसके वर्तमान सभापति माननीय श्रीपट्टाभिसीता-रामैय्याने भी उस दिन यह स्पष्ट कहा कि—इसके लिये कानून नहीं बनना चाहिये बल्कि आचार्यों तथा विद्वानोंको मिलकर विचारविनिमयपूर्वक आवश्यक सुधार करने चाहिये; परंतु जनमतका आदर करनेवाली सरकार उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दे रही है!

यह कोड हिंदुओंकी शास्त्रीय समाज-व्यवस्थाके सर्वथा विरुद्ध है और यदि यह कानून बन गया तो हिंदुओंकी परम्परागत धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक सुव्यवस्थाका मूलोच्छेद हो जायगा और सारा समाज दुखी हो जायगा। इस कानूनके द्वारा वस्तुतः हिंदुओंकी धार्मिक स्वतन्त्रताका बुरी तरहसे अपहरण किया जायगा और उनके सुखी जीवनको सदाके लिये

संतप्त बना दिया जायगा। 'कल्याण'के पाठक इनपर ध्यान देकर जितना भी अधिक-से-अधिक वैध रीतिसे विरोध किया जा सके, सो करें। कानून बन जानेपर सभीको कठिनाइयोंमें पड़ना पड़ेगा और फिर उससे बचनेका कोई सहज उपाय नहीं रह जायगा !

सरकारसे हमारी फिर प्रार्थना है कि वह हिंदू-लोकमतके विरुद्ध इस प्रकारके कानून बनानेका विचार छोड़ दे और बिलको वापस ले ले। थोड़े-से सुधारकोंके मनकी बातका सारे समाजपर बलात्कारसे लादा जाना कदापि उचित नहीं है। अब इस कोडमें प्रस्तावित नियमोंकी क्या-क्या बुराइयाँ उत्पन्न होनेकी संभावना है, इसका संक्षेपमें नीचे दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. हिंदूकी परिभाषासे हानि

१. जन्मसे ही हिंदू होनेका अत्यन्त प्राचीन शास्त्रीय नियम टूट जायगा।

२. कोई भी हिंदू किसी भी चीनी, जापानी बौद्धसे नियमतः विवाहादि कर सकेगा।

३. कोई भी विदेशी और विधर्मी यह कह देगा कि मैं हिंदू-धर्मको मानता हूँ तो उसके साथ विवाहादि सभी सम्बन्ध बतौर हिंदूके हो सकेंगे।

४. किसी भी जाति एवं धर्मका मनुष्य अपनेको हिंदू घोषित करके और किसी भी हिंदूकी सम्पत्तिको गोद तथा विरासतके द्वारा प्राप्त करके पुनः उस सम्पत्ति-सहित अपने पुराने धर्ममें वापस जा सकेगा।

५. वर्ण और जातिव्यवस्थाकी प्राचीन तथा सर्व-मान्य प्रथा सर्वथा टूट जायगी।

२. विवाहके नियमोंसे हानि

१. सगोत्रमें भी विवाह हो सकेगा यानी कुछ ही दूर सम्पर्कसे भाई-बहिन तथा चचा-भतीजी लगनेवाले व्यक्तियोंमें भी विवाह हो सकेगा।

२. सपिण्डकी परिभाषा शास्त्रके विरुद्ध मानी जायगी।

३. अन्तर्जातीय विवाह भी सही माने जायँगे अर्थात् ब्राह्मण एवं अन्त्यजमें विवाह-सम्बन्ध सही माना जायगा, इसी प्रकार किसी बौद्ध और सिखसे भी किसी वर्णाश्रमीका विवाह वैध माना जायगा।

४. ईसाई-मुसल्मान आदि भी अपनेको हिंदू कहकर हिंदू-कन्यासे विवाह कर सकेंगे और उससे उत्पन्न लड़के माताकी सम्पत्तिके भी अधिकारी बनकर पुनः सम्पत्ति-सहित अपने पुराने धर्ममें जा सकेंगे।

५. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि द्विजातियोंके घरके अंदर भी एक मनचला भाई किसी निम्न जातिकी स्त्री अथवा किसी ईसाई-मुसल्मान आदि स्त्रीको हिंदू घोषितकर उससे विवाह करके रख सकेगा और वहाँ चाहे जिस मांसादिको पकाकर भी खा सकेगा। जिससे उसी घरमें रहनेवाले वर्णाश्रमी आचारवान् व्यक्तियोंको घोर कष्ट भोगना पड़ेगा।

६. प्रचलित ब्राह्मविवाहकी शास्त्रीय पद्धति भी अनावश्यक मानी जायगी। शास्त्रीय कहे जानेवाले विवाहोंमें वैदिक पद्धति, कन्यादान एवं वेदमन्त्रोंके पाठकी आवश्यकता नहीं होगी। केवल सप्तपदीसे ही काम चल जायगा।

७. लौकिक आचार आवश्यक नहीं होंगे तथा सप्तपदी आदिमें भी यदि त्रुटि रह जायगी तो उससे भी काम चल जायगा।

८. कानूनी विवाह ही अदालतोंमें अधिक प्रमाणित माने जायँगे, अतः शास्त्रीय कहे जानेवाले विवाहोंकी पद्धति धीरे-धीरे लुप्त हो जायगी और पाश्चात्त्य देशोंकी भाँति रजिस्ट्रीमात्र विवाहके लिये आवश्यक होगी।

९. किसीके द्वारा भी दावा करनेपर विवाह-विच्छेद हो सकेगा। यह व्यवस्था बड़ी कष्टप्रद होगी। कोई भी दुष्ट किसी भी बड़े-से-बड़े आदमीके घरके विवाहोंके विरुद्ध दावा दाखिल करके सभ्य दम्पति और उसके परिवारवालोंको बर्षोंतक अदालतोंमें दौड़ा सकेगा, क्योंकि

दावा करनेवालेका दावा झूठा साबित होनेपर उसपर केवल एक हजार रुपयेतक जुर्माना होगा। इधर दो घरोंको बड़ी भारी परेशानियोंके साथ-साथ हजारों रुपयोंका व्ययभार उठाना पड़ेगा।

१०. तलाकके कारण पातिव्रतकी महान् महिमा नष्ट हो जायगी। जिस पातिव्रतके लिये भारतीय नारियोंने महान् त्याग किया, उसी गौरवान्वित पातिव्रतकी मर्यादा मिट जायगी।

११. तलाकके प्रश्नको लेकर परस्पर मुकदमेबाजियाँ होंगी, और उनमें कटुता तथा वैर बढ़नेके साथ-साथ बड़ा व्यय भी होगा।

१२. पुरुष अपनी पत्नीको व्यभिचारिणी सिद्ध करके गुजारा देनेसे बचनेकी चेष्टा करेगा और इसके लिये गंदी-गंदी कहानियाँ गढ़ी जायँगी, जिससे भारतीय साध्वी सती नारी-समाजपर धब्बा लगेगा।

१३. गुजारा बननेके बाद भी धारा ४६ के अनुसार स्त्रीके विरुद्ध बार-बार मुकदमा चलाया जा सकेगा कि उसके पास बड़ी सम्पत्ति हो गयी है अथवा वह व्यभिचारिणी हो गयी है। इस प्रकार उसे बार-बार अदालती परेशानियाँ सहनेको बाध्य किया जायगा।

१४. तलाकके इस कानूनसे स्त्रियोंकी ही अधिक हानि होगी; क्योंकि पुरुष लोग डाक्टरोंकी सम्मति प्राप्त करके पत्नीका सहज ही त्याग कर देंगे।

१५. यदि तलाकके प्रसंगमें विवाह किसी कानूनी पहलूसे अवैध सिद्ध हो जायगा तो उस विवाहके द्वारा उत्पन्न सन्तान नाजायज करार दे दी जायगी। फिर इन बच्चोंको कहीं ठौर-ठिकाना नहीं होगा। इन्हें सम्पत्तिमें भी भाग नहीं मिलेगा और समाजमें भी ये निकृष्ट समझे जायँगे। ऐसी परिस्थितिमें यह भी सम्भव होगा कि वे परधर्म स्वीकार कर लें।

१६. हिंदू-जातिकी परम पवित्र विवाह-संस्कारकी प्रथा नष्ट हो जायगी। फिर उसका कोई गौरव नहीं रहेगा।

३. गोदके नियमोंसे हानि

१. गोदका शास्त्रीय महत्त्व नष्ट हो जायगा; क्योंकि इसमें ऐसे लोगोंका गोद लिया जाना प्रशस्त किया गया है, जिनका शास्त्रमें स्पष्ट निषेध किया गया है। किसी भी जाति तथा किसी भी हिंदू-नामधारी अपरिचित बालकको भी गोद लिया जा सकेगा। इससे सम्भव है, एक भाईसे नाराज होकर पुत्ररहित दूसरा भाई किसी भी अन्त्यज या हिंदू-नामधारी मुसल्मानको भी गोद लेकर उसी घरमें रख सकेगा।

२. गोद एक धार्मिक कार्य है। वेदमन्त्रोंद्वारा एवं दत्तक होमादि क्रियासे एक व्यक्तिका लड़का दूसरे व्यक्तिके पुत्ररूपसे प्रतिष्ठित किया जाता है, जैसे मन्त्रोंके बलपर पाषाणमें मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा होती है। बिना धार्मिक क्रियाके दत्तकको पुत्रत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः उसका दिया हुआ पिण्ड भी गोद लेनेवाले पिताको नहीं प्राप्त होगा। इस तरह शास्त्रीय पद्धतिकी अवहेलना करके गोदका एक पवित्र और प्रमुख पिण्डदानद्वारा नरक-उद्धारका उद्देश्य नष्ट कर दिया जायगा।

४. सम्मिलित परिवारकी सम्पत्तिविषयक नियमोंसे हानि

१. सम्मिलित परिवारकी अति प्राचीन एवं शास्त्रीय पद्धति नष्ट हो जायगी और उसके महान् लाभोंसे हम वञ्चित हो जायँगे।

२. सम्मिलित पारिवारिक जीवन एवं सम्पत्तिसे निम्न लाभ हिंदू-समाजको अब नहीं रहेंगे।

क. प्रत्येक परिवार एक प्रजातन्त्रात्मक स्वतन्त्र रियासत था, जिसके प्रत्येक सदस्यका परिवारकी सम्पत्तिके कण-कणमें अधिकार था। अतः किसी सम्पत्ति-सम्बन्धी कोई प्रबन्ध बिना सभी सदस्योंकी रायके सही नहीं माना जाता था। यह पंचायती राज्यका सुन्दर नमूना था, सो वह नष्ट हो जायगा।

ख. सम्पत्तिमें जन्मसे ही पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रतकका अधिकार रहनेसे कोई कर्ता बिना उनके हितकी दृष्टिसे सम्पत्ति हटा नहीं सकता था और न कर्ज ले सकता था। इसी प्रथाका यह फल है कि आज हजारों वर्षोंसे नृशंस शासनोंकी परतन्त्रता भोगते हुए भी हिंदू-परिवारोंमें सम्पत्ति बचती चली आयी है।

ग. दूसरा लाभ यह था कि कोई भी मूर्ख पिता पूर्वजोंकी प्राप्त की हुई पीढ़ियों दर-पीढ़ियों बचती आयी सम्पत्ति नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकता था। पर अब वह सम्पत्तिका पूर्ण स्वामी हो जायगा और पूर्वजोंकी संयमसे सङ्कलित अपार सम्पत्तिको भी बिना रुकावट नष्ट कर देगा।

घ. इस प्रथासे किसी परिवारमें जन्म लेनेवाले बच्चे-बच्चेतकका पालन-पोषण एवं भविष्य सुरक्षित था। अब यदि मूर्ख पिता सम्पत्ति हटा दे तो गुजाराका दावा करके भी नाबालिग बच्चे उससे क्या वसूल कर पायेंगे। फल यह होगा कि बच्चे दाने-दानेको मोहताज हो जायँगे। उनकी शिक्षा और परवरिशकी सही व्यवस्था न होनेसे उनका भविष्य बिगड़ जायगा। इस प्रकार देशके भावी राष्ट्रका स्वरूप भी नष्ट हो जायगा तथा इस प्रकार राष्ट्र निर्बल होनेसे स्वतन्त्रता भी खतरेमें पड़ेगी।

ङ. सम्मिलित परिवारमें कोई सदस्य अपने हिस्सेकी सम्पत्ति भी अन्य सदस्योंकी स्वीकृति एवं हस्ताक्षर बिना नहीं बेच सकता था, न पृथक् प्रबन्ध कर सकता था। इससे एक सदस्य मूर्ख एवं कुबुद्धि होनेपर भी दूसरे सदस्य उसकी सम्पत्ति भी बचा देते थे। ऐसा मनचला आदमी भी यह सोचकर कि उसे सम्पत्ति बेचनेका अधिकार नहीं है, अपने मनको रोककर चलता था और उसका चाल-चलन अधिक नहीं बिगड़ पाता था।

च. यह सम्मिलित परिवारकी प्रथाका ही शुभ परिणाम है कि इस देशपर हजारों वर्षतक शासन करनेवाली मुस्लिम जातिकी स्थायी सम्पत्ति नहीं हो सकी और बुरी तरह शासित होनेवाले भी हिंदू अपनी स्थायी सम्पत्ति बचा सके थे।

५. स्त्रीकी सम्पत्तिविषयक नियमोंसे हानि

स्त्रियोंको सम्पत्तिमें पूर्ण अधिकार देनेसे एक विशेष हानि यह होगी कि स्त्रियाँ तनिक-सी बातमें रुष्ट होकर अथवा भावुकतामें या किसीके बहकावेमें आकर सम्पत्तिको पृथक् करके स्वयं भी कष्ट पायँगी और औरोंको भी कष्ट देंगी।

६. उत्तराधिकारविषयक नियमोंसे हानि

१. उत्तराधिकारोंकी शास्त्रीय पद्धति इसमें बिल्कुल उलट दी गयी है। हिंदू-शास्त्रोंमें दाय पिण्डके अनुसार चलता है जो जिस क्रमसे पिण्ड देनेका अधिकारी होता था, उसी क्रमसे सम्पत्ति पाता था। स्त्री-वारिस-को सम्पत्तिमें केवल आजीवन अधिकार शास्त्रोंने दिया था। इस कोडद्वारा अब उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जायगा और उसे बेचने आदिका उन्हें अधिकार रहेगा तथा वे जहाँ जायँगी, सम्पत्ति भी अपने साथ लेती जायँगी। इस प्रकार एक खानदानकी सम्पत्ति छिन्न-भिन्न होकर विभिन्न स्थानोंके भिन्न-भिन्न परिवारोंमें चली जायगी। बहुधा इन सम्पत्तियोंको लेकर उन-उन विभिन्न परिवारोंमें अनेक प्रकारके विवाद खड़े हो जायँगे, कटुता बढ़ेगी। अतः प्रायः दूर स्थानवाले उत्तराधिकारी सम्पत्तियोंको दूसरोंके हाथ बेच देंगे। जो मूल खानदानवालोंके सिरपर सदाके लिये एक स्थायी विपत्तिके रूपमें बन जायगी।

२. माता, पुत्र, भाई, बहन तथा खानदानके सगे और

स्वाभाविक प्रेमके सगे सम्बन्धियोंमें भी बँटवारा आदिके विवाद व्यर्थ ही खड़े हो जायँगे। जिसमें खान-दानका विशेष धन मुकदमेबाजीमें अपव्यय होगा।

३. कन्याको भाईके बराबर हिस्सा देनेसे लाभके बजाय हानि ही अधिक होगी; क्योंकि यदि वह पिताके घरमें पिताकी सम्पत्ति पाती है तो पतिगृहमें उसे भी अपनी ससुर और पतिकी सम्पत्तिमेंसे अपनी ननदको देना पड़ेगा। इस तरह लेना-देना बराबर होगा। लाभ किसीको कुछ नहीं होगा। हानि यह होगी कि जहाँ एक स्थानपर खानदानमें सम्पत्तिका सुन्दर एवं निष्कण्टक प्रबन्ध होता था, वहाँ दूरवर्ती अनेकों खानदानोंमें सम्पत्ति बँट जानेसे उन सभीको प्रबन्धसम्बन्धी कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ उपस्थित होंगी और सभीको क्षति उठानी पड़ेगी।

४. पढ़े-लिखे बड़े आदमी तो वसीयतनामा बना देंगे, जिससे लड़कीको कुछ नहीं मिलेगा। गरीबोंके घरोंमें, जो वसीयतनामा नहीं बनावेंगे, बँटवारेकी विपत्ति आयेगी और उनके घर नष्ट हो जायँगे।

५. आज कन्या या बहिनके विवाहमें पिता, भाई आदि जिस प्रेमसे अनेकों कष्ट उठाकर दहेज आदि देते हैं, वह प्रेम नष्ट हो जायगा और माता-पुत्री तथा भाई-बहनोंमें मुकदमोंकी नौबत आ जायगी।

६. बिना सम्पत्तिवाले तथा कर्जदार घरकी लड़कियों-का विवाह कठिन हो जायगा।

७. उत्तराधिकारियोंमें पौत्र और प्रपौत्रकी अपेक्षा पुत्रीको तथा सगे भाई-भतीजोंकी अपेक्षा पुत्रीके पुत्र (दौहित्र) को पहले स्थान दिया गया है। इसी प्रकार भतीजेके लड़के—भाईके पौत्रकी अपेक्षा पौत्री, दौहित्री, लड़कीकी पौत्री तथा लड़कीकी लड़कीकी लड़कीका अधिकार पहले माना गया है। यह सारा वर्गीकरण केवल लौकिक दृष्टिसे ही किया गया है। जो सर्वथा भ्रममूलक और अधर्म है तथा नाना प्रकारकी व्यर्थकी मुकदमेबाजियोंका हेतु है।

७. गुजारासम्बन्धी नियमोंसे हानि

केवल सधवा पुत्रवधूके गुजारेकी व्यवस्था है; परंतु विधवा पौत्रवधू और सधवा प्रपौत्रवधूके लिये कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। वे बेचारी गुजारेके लिये कहाँ जायँगी।

उपवर्ग तीनमें पिताका नाम गिनाया गया है, पर माताको अकारण छोड़ दिया गया है। बूढ़ी माताकी यह अवहेलना की गयी है!

पतिकी सम्पत्तिपर ही बच्चोंके भरण-पोषणका प्रथम भार रक्खा गया है। यह पुरुषजातिके प्रति अन्याय है; क्योंकि पति-पत्नी दोनों सम्पत्तिमान् हैं, तो बच्चोंके भरण-पोषणका भार दोनोंपर होना चाहिये।

यहाँ संक्षेपमें थोड़ी-सी बुराइयाँ बतायी गयी हैं। बुराइयोंका तो तब अनुभव होगा, जब यह कानून बनकर सबपर लद जायगा। इसलिये अभीसे चेतकर ऐसा घोर और प्रबल प्रयत्न करना चाहिये जिसमें यह बिल वापस ले लिया जाय।

इसके लिये जबतक यह बिल वापस न हो जाय, तबतक आन्दोलन जारी रखना चाहिये और गाँव-गाँवमें बार-बार सभाएँ करके विरोधी प्रस्ताव स्वीकृत करने चाहिये तथा उनकी नकल एवं विरोधके तार-पत्र लगातार 'प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूजीके तथा भारतीय पार्ला-मेण्टके स्पीकर श्रीमावलंकर'के नाम भेजते रहना चाहिये।

साथ ही, धारासभाके सदस्योंको भी, जो जहाँके प्रतिनिधि हों, जनताकी ओरसे चेतावनी दे देनी चाहिये कि यदि हमारी इच्छाके विरुद्ध हमारे धर्मपर अनधिकार हस्तक्षेप किया गया तो अगले चुनावके समय आप हम-लोगोंसे मत प्राप्त करनेकी आशा नहीं रक्खें।

श्रीकृष्णस्तुतिः

(रचयिता—श्रीओङ्कारदत्तजी)

वृन्दावनचारी गिरिधारी मुरलीधर राधाजीवन ।
कुञ्जविहारी लीलाकारी गोपकुमारी-मन-मोहन ॥ १ ॥
राससुधापायक यदुनायक मोरमुकुटधर पीतवसन ।
रसिकशिरोमणि जय जय सुरमणि कौस्तुभमणिधर मन्दहसन ॥ २ ॥
वनमालाभूषण जितदूषण चरणकमल नूपुरधारी ।
कुण्डलमण्डित ज्ञान अखण्डित मायापण्डित सुखकारी ॥ ३ ॥
कोटिकामसुन्दर गुणमन्दिर सदानन्दमय तेजसदन ।
कलिमलनाशक त्रिभुवन-शासक ज्ञानप्रकाशक मोदभवन ॥ ४ ॥
भक्तपरायण श्रीनारायण भक्त-दुःख-दारिद्रयदमन ।
कञ्जविलोचन शोकविमोचन जय मुकुन्द जय कृपायतन ॥ ५ ॥
दिव्यचरित्र मित्र अर्जुनके अति विचित्र मंगलकारण ।
पृथा-व्यथाहारी असुरारी हारी महामोहवारण ॥ ६ ॥
शंकर-अर्चित चन्दन-चर्चित नीलकलेवर कञ्जसमान ।
मघवा-मद-हर सुन्दर सुखकर नटनागर आनन्दनिधान ॥ ७ ॥
नन्दकुमार सार निगमागम भूमिभार-हारी गोपाल ।
निराकार साकाररूप करुणावतार आधार विशाल ॥ ८ ॥
षडैश्वर्यसम्पन्न धन्यतम मान्य वदान्य ज्ञानसागर ।
हृषीकेश अखिलेश परेश्वर योगेश्वर गुणगण-आकर ॥ ९ ॥
शरणागतरञ्जन भवभञ्जन सज्जननुत निगमागमगीत ।
शान्त दान्त ब्रह्मण्यदेव देवार्चित देवाधार पुनीत ॥ १० ॥
कामजनक प्रह्लाद-सुरक्षक खलतक्षक जनमनपावन ।
कमलापति कमलासनपूजित जनहित सेवित वृन्दावन ॥ ११ ॥
यमुनातटगत बालकेलिरत गोपकुमार वेशधारी ।
जयति गोपगोपीपरिवारित गोपीधन गोहितकारी ॥ १२ ॥
जय मुकुन्द गोविन्द जगत्पति गोपति अमित पतितपावन ।
भक्त वशंवद शोषित अघनद मुरमर्दन मुनिमनभावन ॥ १३ ॥
भक्त-कल्पतरु भक्त-भक्तिप्रद भक्तकलुषहारी घनश्याम ।
जय श्रीकृष्ण वृष्णिकुलभूषण बसो सदा मनमें अभिराम ॥ १४ ॥
वितर चरणरति करो अमलमति मानस दोष हरो मेरे ।
निराधार 'ओङ्कार' शरण शरणागत रक्षक है तेरे ॥ १५ ॥

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

कामना ही दुःखका मूल है

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥

(श्रीमद्भा० ९ । १९ । १३, १४, १६)

पृथ्वीमें जितना भी अन्न है, जितना भी सुवर्ण आदि धन है, जितना भी पशुधन है और जितनी भी सुन्दरी स्त्रियाँ हैं, ये सब-के-सब मिल जानेपर भी उस मनुष्यके मनको कभी संतुष्ट नहीं कर सकते जिसका चित्त कामनाओंसे ग्रस्त हो रहा है । विषयोंके प्राप्त करने और भोगनेसे कामना कभी शान्त नहीं हो सकती वरं अग्निमें घृतकी आहुति देनेपर जैसे अग्नि और भी बढ़ती है, वैसे ही भोगोंको पाकर कामना और भी अधिक बढ़ जाती है । दुष्टबुद्धि लोगोंके द्वारा जिसका त्याग बहुत कठिन है, वह विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्गमस्थान है । शरीर वृद्ध हो जाता है पर तृष्णा कभी वृद्धा नहीं होती, वह नित्य नवीन ही बनी रहती है । अतएव जो अपना कल्याण चाहता हो, उसे शीघ्र-से-शीघ्र भोगोंकी कामना और वासनारूप तृष्णाका त्याग कर देना चाहिये ।